आरती और अंगारे

सन् १९५०-'५७ में

लिखित

बच्चन की अन्य रचनाएं

१. मैकबेथ (अनुवाद)
२. धार के इधर-उधर
३. प्रणय पत्रिका
४ मिलन यामिनी
५. खादी के फूल
६. सूत की माला
७. बंगाल का काल
८. हलाहल
९. सतरंगिनी
१०. आकुल अंतर
११. एकांत संगीत
१२. निशा निमंत्रण
१३. मधुकलश
१४. मधुबाला
१५. मधुशाला
१६. खैयाम की मधुशाला (अनुवाद)
१७. प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग } कविताएँ
१८. प्रारंभिक रचनाएँ—दूसरा भाग }
१९. प्रारंभिक रचनाएँ—तीसरा भाग—कहानियाँ
२०. बच्चन के साथ क्षण भर (संचयन)
२१. सोपान (संकलन)

मधुशाला का अंग्रेजी और 'बंगाल का काल' का बँगला अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

आरती और अंगारे

बच्चन
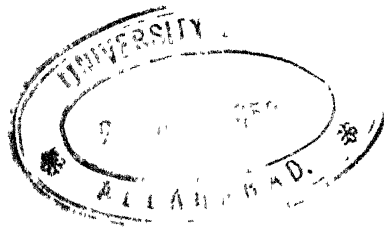
राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

मूल्य : चार रुपये
प्रथम संस्करण : मार्च, १९५८
आवरण : नरेन्द्र श्रीवास्तव
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
मुद्रक : हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

तेजी को

'अर्पित तुमको मेरी आशा, और निराशा, और पिपासा'

अपने पाठकों से

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने कहा था कि प्रत्येक कवि को वह विशेष अभि चि उत्पन्न करनी होती है जिससे उसकी कविता का आनंद लिया जा सके। कहने का तात्पर्य यह है कि उसे अपने पाठको और श्रोताओ का एक वर्ग तैयार करना पड़ता है। वह विशेष अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए कवि अपनी कविता के अतिरिक्त किन और उपकरणो का उपयोग कर सकता है, इसपर मैं अपना दिमाग दौडा सकता हूँ। उदाहरणार्थ, वह अपनी भूमिका अथवा लेखो के द्वारा यह बता सकता है कि उसकी रचना उसके पूर्ववर्तियो अथवा समकालीनो से किन अर्थो मे भिन्न है, उसने कौन-से विषय अपनाए है, कौन छोड़े है, किस प्रकार की भाषा का उपयोग किया है, किस प्रकार की तकनीक का प्रयोग किया है; जीवन की किन मान्यताओ को मुखरित करने के लिए वह लिखता है और अपने पाठको अथवा श्रोताओ पर किस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। यह सब करने का साहस वही कर सकता है जिसमे अपने कवि के प्रति अदम्य विश्वास हो; दुस्साहसी काव्य के क्षेत्र मे भी होते हैं। वर्ड्सवर्थ मे यह विश्वास था और उन्होंने इस प्रकार का बहुत कुछ लिखा भी। लिखने की आवश्यकता थी और उसके द्वारा वे अपनी कविता के प्रेमियो का एक वर्ग बनाने मे सफल हुए। हिंदी कवियो मे यह विश्वास श्री सुमित्रानदन पत मे था और उन्होंने अपनी प्रथम कृति 'पल्लव' ('उच्छ्वास' नाम्नी लघु पुस्तिका तो प्राय मित्रो मे बाँटने के लिए खानगी तौर पर छपाई गई थी) की भूमिका से कुछ इसी प्रकार का कार्य किया।

मुझे अपने कवि मे विश्वास कभी नही था; आज भी नही है; कभी आगे भी हो सकेगा, इसमें सदेह है। मन:स्थितियो और परिस्थितियो के प्रति जिस प्रकार की मेरी प्रतिक्रिया होती है और प्रतिक्रिया होने पर जिस

प्रकार की अभिव्यक्ति मैं उसे देता हूँ, यदि वह कवियों की-सी है तो मैं कवि हूँ, यदि वह अभिव्यक्ति कविता-सी है तो जो मैं लिखता हूँ वह कविता है। इसे परपरा से चली आती हुई कविता के प्रति मेरी आस्था भर न समझा जाय। जब मैंने लिखा था ·

'क्यों कवि कहकर संसार मुझे अपनाए,
मैं दुनिया का हूँ एक नया दीवाना।'

(मधुबाला)

या

'कविता कहकर जग ने तेरे क्रंदन का उपहास किया।'

(निशा निमत्रण)

अथवा

'कवियों की श्रेणी से अबसे मेरा नाम हटा दो।'

(मिलन यामिनी)

या

'मैंने ऐसा कुछ कवियों से सुन रक्खा था'—आदि-आदि।

(आरती और अंगारे)

तब अपने मन का एक सहज भाव ही प्रतिध्वनित कर रहा था। ये प्रतिक्रियाएँ, ये अभिव्यक्तियाँ मेरे लिए स्वाभाविक हैं। ये प्रक्रियाएँ मेरे सामान्य मानव के ही अतर्गत है, इतनी निकटता से, इतनी अनिवार्यता से कि मेरे साथ इनकी संगति बिठलाने के लिए किसीको मुझे कवि की अतिरिक्त संज्ञा देने की आवश्यकता नही; मेरे फूट पड़ने को छन्द बनाने, मेरे रोदन, गायन, क्रन्दन—मेरे उद्‌गारों को कविता कहने की ज़रूरत नहीं।

बाबा तुलसीदास ने जब लिखा था कि 'कवि न होउँ' तो मेरी समझ में यह केवल नम्रता-प्रदर्शन न था। भक्ति से अंतर भर जाने पर राम-गुन-गान उनकी स्वाभाविक प्रक्रिया हो गई होगी। और उन्हें सचमुच लगा होगा कि मैं कवि नहीं हूँ, जो कुछ लिख रहा हूँ वह तो मेरे

सहज मानव का सहज काम है। खैर, बडों की बात बड़े जाने। मैंने अपनी अनुभूति आपको बता दी।

तब जैसे मैं हूँ, वैसे ही मेरी अभिव्यक्ति है। मैं यह कहने नही जाता कि मैं दूसरों से कितना भिन्न हूँ, कितना उनके समान हूँ, मैंने जीवन मे क्या अपनाया है, क्या छोड़ा है, कैसा मेरा रहन-सहन है, बोल-चाल है, बात-व्यवहार है, क्या मेरे श्रेय-प्रेय है, जो मेरे चारो तरफ है, उनसे मैं क्या पाना चाहता हूँ, उन्हे क्या देना चाहता हूँ, उनसे अपने किन विचार-भावों का आदान-प्रदान करना चाहता हूँ। अंग्रेजी मे कहना चाहूँगा, 'आई लिव देम।' मैं यह सब बर्तता हूँ। इन सब चीजो का सम्मिलित नाम है मेरा व्यक्तित्व। मेरी अभिव्यक्ति का भी एक व्यक्तित्व है।

तब जैसे मैंने अपने व्यक्तित्व से, अपनी सपूर्ण इकाई से अपने लिए 'अरि, मित्र, उदासी' बनाए हैं, वैसे ही मेरी अभिव्यक्ति भी बनाए। यदि मैं समाज के बीच अपने लिए कोई अभिरुचि जगा सका हूँ तो मेरी अभिव्यक्ति भी जगाए।

इसी आस्था से अपनी अभिव्यक्ति—अपनी कविता—के अतिरिक्त अन्य किन्ही उपकरणो का आश्रय लेने की न मैंने कभी बात सोची और न मुझे इसकी आवश्यकता पड़ी।

यदा-कदा बाल-प्रयासों की गणना न करूँ तो चार-पाँच वर्षों के सतत् अभ्यास के पश्चात् १९३३ में मैंने 'मधुशाला' लिखी और उसके साथ ही मैंने अपने श्रोताओ और पाठकों का वर्ग तैयार पाया। वर्ड्सवर्थ या श्री सुमित्रानंदन पत-जैसे कवियों में अपने कवि के प्रति मुझसे कही अधिक आत्म-विश्वास भले ही रहा हो, भाग्यवान मैं उनसे कही अधिक था। उनसे कही अधिक मुझे अपनी कविता मे विश्वास था, क्योंकि मुझे अपने में, अपने मानव मे विश्वास था। और अगर कुछ उस कविता के शत्रु बने, कुछ उससे उदासीन रहे तो इसपर मुझे आश्चर्य नही हुआ। मेरे भी शत्रु है, मुझसे भी उदासीन रहनेवाले लोग हैं। सजीव व्यक्तित्व और सजीव कवित्व के प्रति प्राय. इस प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती है। निर्जीवों की

उपेक्षा की जाती है।

और न मेरा व्यक्तित्व ही सुस्थिर है और न मेरा कवित्व ही। दोनों का विकास होता रहा है। पर, जहां मेरे कल का व्यक्तित्व मेरे आज के व्यक्तित्व मे समा गया है और उसकी अलग कोई सत्ता नही रह गई, वहाँ मेरी कल की कविता भी मौजूद है और आज की भी मौजूद है। जैसे मेरे कल के व्यक्तित्व में आज का व्यक्तित्व बीज-रूप से वर्तमान था, जैसे मेरे आज के व्यक्तित्व मे मेरे कल का व्यक्तित्व भी समाया है, वैसे ही 'मधुशाला' में भी 'आरती' का कुछ प्रकाश और 'अगारे' की कुछ चिनगारियाँ मौजूद थी और 'आरती और अंगारे' में 'मधुशाला' का रंग-राग किसी न किसी रूप मे समाया है और इसी प्रकार मेरी आगे की रचना मे भी 'आरती' का कुछ धूप और 'अगारे' का कुछ ताप रहेगा। मेरी प्रथम रचना की क्षमताएँ—इनमें शक्तियाँ और कमजोरियाँ दोनों सम्मिलित है—मेरी अतिम रचना ही सिद्ध कर सकेगी, मेरी अतिम रचना ही बताएगी कि मेरी प्रथम रचना मे क्या सभावनाएं थी। नाम प्रासंगिक हैं, सिद्धात को अमूर्त होने से बचाने के लिए। कहने का मतलब है, जैसे मेरा जीवन सागिक (आरगेनिक) है वैसे ही मेरी कविता भी है।

व्यक्ति का विकास शून्य मे नही होता, समाज में होता है। समाज का बड़ा व्यापक अर्थ है। यह और बात है कि कुछ लोग समाज को समझते हैं, किसान-मजदूर सभा। मै यह माननेवाला हूँ कि समाज से पलायन की प्रवृत्ति भी समाज मे रहकर जागती है। मेरा व्यक्ति भी समाज मे विकसित हुआ है और मेरी अभिव्यक्ति भी समाज मे विकसित हुई है। और दोनों ने जो रूप आज लिया है—चेतन और अवचेतन कारणों से—वह विकास की एक दिशा है। इससे भिन्न दिशाएँ भी हो सकती है और है भी; और इसे मानने का मेरे पास कोई कारण नहीं कि मेरा विकास अद्वितीय है। तब, मेरी ही तरह बहुतों का विकास हो सकता है, मेरी ही-सी मिलती-जुलती दिशा में। मैं उन बहुतों को देखता रहा हूँ और वे मुझे देखते रह हैं, और हमने विचार-भाव-अनुभवों

के पारस्परिक आदान-प्रदान से एक दूसरे से प्रेरणा ली है, एक दूसरे को प्रोत्साहन दिया है। इसमें मेरी अभिव्यक्ति भी एक साधन रही है, शायद सब साधनों म अधिक प्रमुख और मुखर भी।

आप मेरे पाठक है तो मै यह मान लेता हूँ कि आपने मेरी अभिव्यक्ति को उसकी साधारणता-स्वाभाविकता, उसके व्यक्तित्व-आकर्षण, उसकी सजीवता-सांगिकता और उसमें सह एव सम अनुभूति के कारण स्वीकार किया है। यानी आपने उसे वैसे ही स्वीकार किया है जैसे मेरे मित्र मुझे स्वीकार करते है।

यह तो केवल भूमिका हुई। मेरी अभिव्यक्ति और आपमे जो सबंध है उसे मुझे बदलना नही—उसके बढने-घटने के लिए मै एक को ही जिम्मेदार नही समझूँगा। बहरहाल, वह जैसा है उससे मुझे पूरा संतोष है। बहुतों को यह ईर्ष्या का विषय भी है। कभी-कभी जीवन में अपने सबंधो के प्रति सचेत होने की भी आवश्यकता होती है। इन पंक्तियों से आपका कुछ और विश्वास पा और अपने मे कुछ और आत्म-विश्वास जगा आपसे कुछ कहना चाहता हूँ।

अपनी कविताओ का एक नया सग्रह आपके सामने रख रहा हूँ। इनमे से बहुत-से गीत समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके है। आपने इन्हे पढा होगा और अपनी तरह से आपकी प्रतिक्रिया हुई होगी। मै प्रायः गीत ही लिखता रहा हूँ। गीतो की एक अपनी इकाई होती है—भावो, विचारो की, और एक हद तक अभिव्यक्ति के उपकरणो की भी, और उनका आनंद लेने के लिए किसी टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नही होती। प्रत्येक गीत को सर्व-स्वतत्र, अपराश्रित और अपने मे ही परिपूर्ण मानकर प्रायः पढा या गाया जाता है और उसका रस लिया जाता है। अब यह गीतकार का काम है कि गीतो की परिमित परिधि के भीतर ही भावों का उद्रेक और विकास कर उन्हे वाछित परिणति पर पहुँचा दे। आप कह सकते है कि अगर ऐसी बात है तो इस प्रकार इन गीतों की पेशबदी करने की ज़रूरत आपको क्यो हुई ?

अगर आपको मेरी कविता से प्रेम है तो आपने मेरे पिछले गीत-सग्रह भी देखे होगे, जैसे निशानिमत्रण, सतरगिनी, मिलन-यामिनी आदि। ये है तो गीत-सग्रह, पर उनको मै केवल गीत-सग्रह नही मानता; आपने भी ऐसा नही माना होगा। इन सग्रहो मे एकसूत्रता है; भावना, और अभिव्यक्ति के उपकरणो की भी एक बडी इकाई है जो सबपर छाई है, जो प्रत्येक गीत के स्वच्छद व्यक्तित्व के बावजूद सबको एक दूसरे मे अनिवार्य रूप मे बँधा या जुडा सिद्ध करती है। कारण इसका यह है कि जिन्ही भावनाओ ने मुझे कुछ समय तक अभिभूत कर रक्खा है और इस बीच लिखे गीतो मे एक प्रकार की समानता आ गई है। शायद परिस्थितियाँ मेरे अनुकूल होती तो उस भावना से मै कोई लबी कविता या खड-काव्य जैसी कोई चीज लिख सकता था—महाकाव्य के नाम से ही मै आतंकित हो उठता हूँ। अक्सर मेरे मित्रों ने मुझसे कहा भी है कि तुम कोई लबी कविता क्यो नही लिखते, तुममे इसकी क्षमता है। शायद उनका कहना ठीक भी हो।

मेरा ऐसा ध्यान है कि लबी कविता लिखने के लिए कवि को अपने समय का मालिक होना चाहिए। कविता लिखने बैठे तो उसकी आख न घडी पर हो और न कैलेंडर पर। मुझे ऐसा सुयोग नही मिल सका। मुझे अपने और अपने परिवार के लिए रोटी-कपडा जुटाने के लिए कई तरह के कबार करने पड़े है। लिखने बैठा हूँ, और, लो, वक़्त हो गया है कि अब कचहरी पहुँचना है, अब युनिवर्सिटी पहुँचना है, अब परेड पर हाजिर होना है, अब दफ़्तर जाना है। प्रेरणा की घड़ियो पर घंटे-मिनट की सुइयो का शासन नही चलता, और जीवन की वास्तविकताएँ प्रेरणा की घड़ियों के प्रति न किसी प्रकार की उदारता दिखलाती है, न उनको किसी तरह की छूट देती है। यह नही हो सकता कि ९ बजकर ठीक ३० मिनट पर प्रेरणा के ग्रामोफोन की सुई हटा दी जाय और ४ बजकर ३० मिनट पर जहाँ से उठाई थी वहीं फिर लगा दी जाय। प्रेरणा की सुई हटी तो फिर हटी। मैंने तो उसे एकबार हटाकर फिर उसी जगह लगाना असंभव ी

पाया है ।

पर मै जीवन की वास्तविकताओ का आदर करता हूँ, उन्हें प्यार भी करता हूँ । कविता इसलिए नही लिखी कि और कुछ कर नही सकता या करना नहीं चाहता ·

'सब जगह असमर्थ हूँ मैं इस वजह से तो नहीं तेरा हुआ हूँ ।'

वास्तविकताएँ न हो तो जीवन का कोई अर्थ नही । कविता के बिना जीवन का अर्थ हो सकता है । लिखने के लिए मै नही जीता, जीवन प्रशस्त करने के लिए लिखता हूँ । अगर मझसे कोई कहे कि जाओ आज से तुम्हारी सारी फिक्रें मैंने अपने ऊपर ले लीं, तुम आराम से लिखो, तो मेरा लिखना बद हो जायगा । कवि का यही चित्र मेरे मन को भाता है

'बोझ सिर पर, कंठ में स्वर'

हमारी अवधी मे एक कहावत प्रचलित है, 'पूतौ मीत, भतारौ मीत, किरिया केकर खाऊँ ।' अर्थात् पुत्र भी प्यारा है, पति भी प्यारा है, किसकी कसम खाऊँ । जीवन की वास्तविकताएँ भी प्यारी है, प्रेरणा की घड़ियाँ भी प्यारी है, किनको बलिदान किया जाय । मैंने एक समझौता कर लिया है, और बहुत दिनो से उसे चला रहा हूँ । मैंने समझ लिया था कि लबी रचना मेरे बस की नही । क्यो न अपनी उस भावना को,जो लंबी रचना माँगती है, इस प्रकार विघटित कर दिया जाय कि उसके एक-एक खंड को लेकर छोटी-छोटी रचना कर दी जाय । घनी वास्तविकताओं के बीच भी घंटे-दो घटे का वक्त तो ऐसा निकाला ही जा सकता है कि उसमे इस छोटी-सी रचना को पूरा कर दिया जाय । मेरे संग्रहो मे गीतो की अलग-अलग इकाई और उनकी पारस्परिक संबद्धता का शायद यही राज है ।

यो एडगर एलेन पो के इस सिद्धान्त मे भी मुझे कुछ सत्यता प्रतीत होती है कि कविता तो लबी हो ही नही सकती, क्योकि मनुष्य का मस्तिष्क तीव्र भावनाओ के आवेग का अधिक समय तक नही झेल सकता । जब कविता लबी होती है तब भावनाएँ अपनी गभीरता से हटकर सिल-

पट हो जाती है। एक ओर अंग्रेज लेखक का कथन मुझे स्मरण है—उसका नाम भूल गया हूँ—कि प्रत्येक लंबी कविता अनेक छोटी कविताओं का धारावाहिक रूप है। संभव है, मेरी रचनाओं के पीछे मेरी सीमाएं ही नहीं, इस प्रकार की कोई धारणा भी अनजाने काम कर रही हो। मैंने कभी इसका विशेष विश्लेषण नही किया।

'मिलन यामिनी' प्रकाशित कर देने के पश्चात मेरे मन मे कुछ ऐसे भावो-विचारो का मथन प्रारभ हुआ कि बहुत दिनो तक मैं यह निश्चय ही न कर पाया कि उनकी अभिव्यक्ति किस तरह से आरभ करूँ। मूल बात मै क्या कहना चाहता हूँ, यह तो स्पष्ट थी। वह अभी नहीं बताऊंगा। पर जब उसकी अभिव्यक्ति के रूप की कल्पना की तो मुझे लगा कि जैसे किसी महान काव्य (महाकाव्य नही) के प्राणों की धड़कन सुन रहा हूँ। इससे मैं डरकर भागा। इसे भूल जाने के लिए मैंने कई उपाय किए। धड़कनें बंद नही हुई। मै उसे अपनी छाती मे ले गया तो मेरा विस्फोट ही हो जायगा। और तब वही समझौता, वही विघटन की रीति काम आई। गीतों से ही उसको व्यक्त करूँगा, पर इसके लिए ढाई-तीन सौ गीत लिखने होंगे।

पचीस-तीस गीत लिखे थे कि मै इंग्लैंड चला गया। अपनी डाक्टरेट के सबध मे वहाँ बहुत कुछ पढना-लिखना था। रमणीक देश था, बहुत कुछ देखना-करना भी था। फिर भी वहाँ सौ से ऊपर कविताएँ लिखी, जिनमें कुछ मुक्त छंद की भी थी और यह स्वाभाविक ही है कि इन बहुत-सी कविताओं में मेरे प्रवास की अनुभूति और वातावरण की छाप पडी है—कहाँ और कैसे, इसे देखना, मेरी समझ में, कल्पना-प्रवण पाठक के लिए कठिन नही होना चाहिए। मेरे प्रवास मे ये मेरे गीत देश की पत्रिकाओं मे छपते रहे।

यह भी सोच लिया था कि इस बडे संग्रह का नाम क्या दिया जाय। बाबा तुलसीदास के गीत संग्रह 'विनय पत्रिका' से यह प्रेरणा ली कि इसे 'प्रणय पत्रिका' कहा जाय। उसका बीज-मंत्र विराग, तो इसका राग-

विराग की उस आकाशी स्थिति को तो बिरले संत ही पा सकते हैं, पर अपनी इस धरती पर जो बहुरंग अनुभूतियाँ है वे भी हमारी आस्था माँगती हैं और हमारे कठो से मुखरित होने का अधिकार रखती है और उन्ही को वाणी देने का प्रयास इन गीतो मे किया गया। पर शायद एक स्थिति ऐसी भी है जहाँ राग और विराग एकाकार हो जाते है और दोनो मिलकर एक ऐसे जीवन की सवर्द्धना करते है जो दोनो से परे है।

'प्रणय पत्रिका' शीर्षक से ही कई गीत पत्र-पत्रिकाओ मे निकले। इग्लैड से लौटने पर गीतो को देखकर, जिनकी सख्या अब सौ से ऊपर पहुँच चुकी थी, मुझे यह आभास हुआ कि अभी जो कुछ कहना चाहिए था उसका एक भाग ही कहा गया है, और मैने कविताओ को सग्रह का रूप देने का विचार छोड दिया। परन्तु, मेरे बहुत-से पाठक जो गीतो को पत्रो मे देख चुके थे, उन्हे सग्रह-रूप मे देखने को उत्सुक थे। इसलिए ५९ गीतों का एक सग्रह मैंने 'प्रणय पत्रिका' के नाम से प्रकाशित कर दिया। इग्लैड से लौटकर मै बहुत अस्वस्थ हो गया था। पुस्तक ज्यो-त्यों प्रेस में दे दी गई। एक मेरे विद्यार्थी ने चयन किया, मैने गिनती की चार पक्तियाँ भूमिका के नाम पर लिखी। वास्तव में जो बातें मै आज कह रहा हूँ, वे मुझे उस समय कहनी थी।

अब सौ गीतो का यह संग्रह छप रहा है। ये सब 'प्रणय पत्रिका' की कल्पना के ही अतर्गत है। कभी मेरे मन मे आया था कि इसे 'प्रणय पत्रिका-दूसरा भाग' कहा जाय। फिर इस सग्रह को एक अलग सत्ता देने के विचार से इसे 'आरती और अंगारे' नाम दे दिया गया। मेरी कल्पना की 'प्रणय पत्रिका' अब भी पूरी नही है। जो अभी और कुछ कहने को है उसके लिए मै सौ-सवा सौ गीत और लिखूँ तो शायद कह सकूँ कि मैने अपनी कल्पना के प्रति न्याय किया। इन गीतो को मै कब तक लिख सकूँगा, मै नही जानता। शेष गीत लिखे जा सके तो सबको मैं फिर से एक विशेष क्रम मे रखकर एक नाम से ही पुकारना चाहूँगा।

१९५० मे जो कल्पना मेरे मन में उठी थी, इन सात वर्षों मे वह

विकसित भी होती रही है। आगे चार-पाँच वर्षों तक, जब मै उसे पूर्ण-तया अभिव्यक्त करने की आशा रखता हूँ, इसका क्या रूप हो जायगा, मै स्वय नही जानता।

आपने कभी किसी चित्रकार को चित्र बनाते देखा है, उदाहरणार्थ किसी मनुष्य का चित्र ? वह ऐसा नही करता कि पहले नख बनाए, फिर उँगलियाँ, फिर पाँव, फिर पिडुलियाँ, घुटने और उसी क्रम से चोटी तक पहुँच जाय। वह अपनी तूलिका से कभी एक रेखा पाँव की बनाता है, कभी सिर की, कभी हाथ की और इन रेखाओं मे कोई क्रम, कोई संगति, कोई विकास देखना तब तक संभव नही जब तक चित्रकार की कल्पना न जान ली जाय। 'प्रणय पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' के गीत उन्ही रेखाओं के समान है जो अभी अपने स्थान पर भी नही। मुझे एक दूसरा रूपक सूझ रहा है जो अधिक समीचीन होगा। आपने देखा होगा, बच्चे एक तरह का खेल खेलते है। बाजारो मे लकडी या गत्ते के ऐसे टुकडो के बक्स मिलते है जिनको अगर ठीक से जोडा जाय तो किसी आदमी या जानवर की आकृति बन जाती है। इन टुकडो को ढेरी में रख दिया जाय तो आदमी या जानवर का कोई आभास नही मिलता। मै चाहूँगा कि मेरे गीत उन्ही टुकड़ो के समान समझे जायँ। टुकडे तो बिल्कुल निरर्थक होंगे। गीत होने के कारण प्रत्येक रचना अपना अलग अर्थ भी रखती है। जब तक मै उनका क्रम स्थापित नही कर देता आपसे धीरज रखने की प्रार्थना कर सकता हूँ। 'विनय पत्रिका' का ख़ाका आप अपने सामने रक्खे। मैने 'प्रणय पत्रिका' का ख़ाका कुछ-कुछ वैसा ही रखने को सोचा है। जो भी गीत आपके सामने है, अगर आप चाहे तो, उनको एक नमूने के क्रम मे लगा सकते है। मैने दोनो संग्रहो के गीतों का जो क्रम अपने लिए बनाया है उसमे मुझे अपनी कल्पना के रूप का कुछ आभास तो मिलता है, पर बहुत-सी ख़ाली जगहें भी दिखाई देती है। मुझे इन्हे भरना बाक़ी है।

इन गीतो के बारे मे मुझे सिर्फ़ दो-एक बातें और कहनी हैं। ये गीत

है, इन्हे आँख से, मौन रहकर मत पढिए, इनको स्वर दीजिए, गाइए—कुछ गीत गेय नही है, उन्हे सस्वर पढ़िए, भावानुरूप स्वर से । किसीसे गवाकर या पढ़ाकर सुनिए । यानी छपे हुए शब्दो की, जिसे अंग्रेजी मे कहेगे, 'माउदिंग' की जानी चाहिए, उन्हे मुख से 'मुखर' किया जाना चाहिए । सब गीतों को एक सिरे से दूसरे सिरे तक न पढ जाइए । यह उपन्यास नही है । मै तो कोई अच्छा गीत सुन लेता हूँ तो बहुत देर तक दूसरा नही सुन सकता । कोई गीत आपको विशेष प्रिय लगे तो उसे फिर-फिर पढ़िए । अच्छा गीत दूसरी-तीसरी बार पढ़ने पर अधिक अच्छा लगना चाहिए ।

अत मे एक आगाही । इस–उस कोने से आपको लोगो के ऐसे भी स्वर सुनाई देगे कि अब गीतो का युग बीत गया है । आप अचरज मत कीजिएगा यदि ये लोग कल कहते सुने जाॅय कि अब हँसने-रोने का, प्रेम करने का, सघर्षरत होने का युग बीत गया है । आज जो ऐसी बाते कह रहे है उन्ही के बाप-चाचो ने जब 'मधुशाला' निकली थी तो कहा था, यह मस्ती का राग अलापने का युग नही है, 'निशा निमंत्रण' निकला तो कहा था, यह रोदन-क्रंदन का युग नही है; 'सतरगिनी' निकली तो कहा था, यह प्रेम के तराने उठाने का युग नही है; और उनके बेटो-भतीजो ने 'प्रणय पत्रिका' निकली तो कहा, यह तो बीते युग की बाते है । मेरे पाठको ने इन तथा अन्य संग्रहो मे जो सह एव सम अनुभूति पाई है उसने उनके इन फतवो को गलत ही साबित किया है ।

'प्रणय पत्रिका' का प्रथम सस्करण समाप्त हो गया है । शीघ्र ही नया संस्करण छपेगा, और आप उसके और 'आरती और अगारे' के गीतो को मेरी एक ही कल्पना के अतर्गत मानकर उनका रस लीजिए । आगे के गीत मै 'मेरे और तुम्हारे बीच' शीर्षक से लिखना चाहूँगा जो आपको भविष्य मे पत्र-पत्रिकाओं मे मिलेगे ।

विदेश मत्रालय,
नई दिल्ली ।
१८-१२-१९५७

बच्चन

गीतों की प्रथम पंक्ति-सूची

प्रथम पंक्ति — **पृष्ठ**

प्रथम पंक्ति **पृष्ठ**

*विलियम बट्लर इट्स पर टिप्पणी पृष्ठ २४३ पर देखें।

प्रथम पंक्ति | **पृष्ठ**

प्रथम पंक्ति **पृष्ठ**

प्रथम पंक्ति | पृष्ठ

१

मेरा कवि गज गरिमा समझे, मेरी कविता हो गजगामी।
निद्रा के नीलम अंबर से
स्वप्न-श्वेत गज अरुण जलज ले
मेरे मन-तड़ाग मे उतरे,
लहरे उठ-उठ, गिर-गिर मचले;
हो जाए जब जल-कोलाहल
शांत, कमल तल मे आरोपे,
और अतल से एक उठे सगीत गगनभेदी अविरामी।
मेरा कवि गज गरिमा समझे, मेरी कविता हो गजगामी।

एलोरा - ऐरावत जैसे
भार पर्वताकार उठाए,
भारत की प्राचीन कला का,
संस्कृति का, बेपीठ झुकाए,
उसी तरह से नए हिद की
नई ज़िदगी, नई जवानी,
ताक़त, मस्ती, हस्ती, बनने की मेरी वाणी हो कामी।
मेरा कवि गज गरिमा समझे, मेरी कविता हो गजगामी।

धूलि उठा नित सिर पर धारे,
खोज करे उस रज के कण की,
जिसको छूकर ऊपर उठती
रूह-रहित प्रतिमा पाहन की,
ढूह अगर मिट्टी के रोकें
राह ढहा दे क्रीड़ा में ही,
औ' अपनी रौ चले भले ही भूके श्वान, करें बदनामी।
मेरा कवि गज गरिमा समझे, मेरी कविता हो गजगामी।

गज को ग्राह मिला करते हैं
लेकिन इससे मत घबराए,
जग जिदों से आशा करता
अपना बल परखें, परखाएँ,
बस न चले, सबकी सीमा है,
तो यह दृढकर, एक जगह पर
झुकना उठने से बढ़कर है,
झुकना उठने से भी दुष्कर,
हो समर्थ अंतिम साहस कर कहने में, 'प्रभु, पाहि नमामी।'
मेरा कवि गज गरिमा समझे, मेरी कविता हो गजगामी।

२

कानों में लय भर तू भर दे, गीत बसा लूँगा मैं, माये !
अर्थ समझती बुद्धि जगाई,
शब्द समझते कान सयाने,
भाव समझता गह्वर अंतर,
लय में डूब-डूब अनजाने
जीवन के सब अंग उभरते
कोई अद्भुत-सी निधि लेकर;
कानों में लय भर तू भर दे, गीत बसा लूँगा मैं, माये !

लय, जिसकी गति पर नभमंडल
में तारक-दल देते फेरे,
नर्तन करती है छै ऋतुएँ,
आते-जाते साँझ-सबेरे,
हृदय प्रिया-प्रियतम के जिसपर
धड़का करते आलिंगन में,
वह मेरे सुर के बस हो तो, उर उकसा लूँगा मैं, माये !
कानों में लय भर तू भर दे, गीत बसा लूँगा मैं, माये !

काम-धाम से कब डरता मैं,
कब मिट्टी की निठुराई से,
पर यह काज नहीं सरता है
बस हाथों की चतुराई से,

सुरभि स्वर्ग से उतरा करती,
पवन उसे बिखराता फिरता;
बीज-वपन केवल तू कर दे, फूल हँसा लूँगा मैं, माये !
कानों में लय भर तू भर दे, गीत बसा लूँगा मैं, माये !

मना किया सिर में लिखने को
जो, विधि ने उसको ही आँका,
नीरस को रसमय कर देना,
हो मेरी रसना का साका,
कवित, रसिक सुन तन-मन धुनता
तो कवि ने एहसान किया क्या ?
नयनों में घन बन तू छा जा, रस बरसा लूँगा मै, माये !
कानों में लय भर तू भर दे, गीत बसा लूँगा मैं, माये !

३

ओ, वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक !
किस प्रभात का चपल पवन था
उसको छूकर आया,
जो उसकी सुकुमार सुरभि ने
तुमको विकल बनाया ?
किन तारों से उसके स्वर की
तुमने प्रतिध्वनि पाई ?—
ओ, वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक !—
जो तुमने गिरि-वन में जप-तप-
कर उसको मनुहारा,
देवपुरी के झूलों पर से
भू की सेज उतारा।
आर्य, तुम्हीं ने वाणी का
कौमार्य अछूता जाना;
तुम सर्वप्रथम उस मुग्धा के अधिनायक !
ओ, वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक !
ओसकणों से व्योम नगों तक
सार, शुभद, सुखदायी—
सब मन-तंत्री पर झंकृतकर
तुमने तान उठाई,

सामगान गाए, जिसपर
युग-कल्प रहे लहराते,
ओ, शब्द-सुरों के पहले भाग्य-विधायक !
ओ, वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक !

एक वेदना, एक व्यथा का,
एक दर्द का मारा,
जो उर कुछ कहने को आतुर
वह भी रक्त तुम्हारा,
अक्षय, अमर तुम्हारी निधि मे
बालक-सा घबराया,
क्या माँगूँ अपने गीत-लयों के लायक।
ओ, वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक !

४

तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।

बन-पर्वत पर फिरते-छिपते
बटमारों का नायक,
जपकर जिसको बन जाता है
महाकाव्य का गायक,

जो कि रहेगा थिर जबतक हिम-
शृंग, लहरमय गंगा,

सप्तर्षि सुझाया राजमंत्र दुहराऊँ।
तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।

क्रौंच मिथुन की पीर तीर-सी
धँसी तुम्हारे उर में,
बीज रूप यह गाथा थी जो
घटी अयोध्यापुर में,

और घटित होती हर अंतर
में यह रामकहानी;

किस युग पीड़ा को उर के बीच बसाऊँ?
तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।

महाराग अब कहाँ भाग ले
जिसमें अग-जग सारा,

यही ग़नीमत है जाग्रत है
मानव का एकतारा,

चतुर गुनी उसपर भी जीवन
कुछ मुखरित कर लेते;

रस-अर्थ रहित ध्वनियों में मैं क्या गाऊँ।
तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।

ओ, रस के घन सघन, छंद के
निर्भर श्रवण सुहावन,
अर्थों की सरिता, वर्णों के
करुणागार सनातन,

पैठ कहाँ मंजुल मणियों में,
अपना जन्म सराहूँ,

क्षण बैठ किनारे सीप जुटा जो पाऊँ।
तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।

५

'भारत के हे गंभीर-धीर स्वर-साधक !

तुम बोले तो लगा कि जैसे
जाग हिमाचल बोला,
तुम बोले तो लगा कि जैसे
कंठ सिंधु ने खोला,
सिर गिरि की चोटी-सा ऊँचा,
उर अंबुधि-सा गहरा,
भावना-ज्ञान के तुम समान अभिभावक !
'भारत के हे गभीर-धीर स्वर-साधक !

लगे रहे किस वन में, कितने
युग किस तप-साधन में ? —
जीभ निकल आई पत्तों की
जगह गहन कानन में,
यह अरण्य-उद्घोष लेखनी-
बद्ध कौन कर पाता,
मिलते न अगर लेखक अनन्य गणनायक !
'भारत के हे गंभीर-धीर स्वर-साधक !

तीन लोक के देव-दनुज-
मनुजों की जीवन गाथा,

सिद्ध, तुम्हारे बिना कौन यह
एक साथ कह पाता,
'यन्नभारते तन्नभारते—'
सत्य नहीं इतना ही,
वह गेय नहीं, तुम गा न सके जो, गायक !
'भारत के हे गंभीर-धीर स्वर-साधक !

है अपार कांतार गलों से
बेशुमार जब गाता,
अचरज क्या जो एक विहंगम–
शिशु गाते शरमाता,
डूबे तो उस ठौर जहाँ से
मुट्ठी में कुछ आए,
छूटा क्या तुमसे, भवसागर-अवगाहक !
'भारत के हे गंभीर-धीर स्वर-साधक !

६

ओ, उज्जयिनी के वाक्-जयी जगवंदन !

तुम विक्रम नवरत्नों में थे,
यह इतिहास पुराना,
पर अपने सच्चे राजा को
अब जग ने पहचाना,
तुम थे वह आदित्य, नवग्रह
जिसके देते फेरे,
तुमसे लज्जित शत विक्रम के सिहासन।
ओ, उज्जयिनी के वाक्-जयी जगवंदन !

तुमने किस जादू के बिरवे
से वह लकड़ी काटी,
छूकर जिसको गुण-स्वभाव तज
काल, नियम, परिपाटी,
बोली प्रकृति, जगे मृत-मूर्च्छित
रघु-पुरु वंश पुरातन,
गंधर्व, अप्सरा, यक्ष, यक्षिणी, सुरगण।
ओ, उज्जयिनी के वाक्-जयी जगवदन !

सूत्रधार, हे चिर उदार,
दे सबके मुख में भाषा,

तुमने कहा, कहो अब अपने
सुख, दुख, संशय, आशा;
पर अवनी से, अंतरिक्ष से,
अंबर, अमरपुरी से
सब लगे तुम्हारा ही करने अभिनंदन।
ओ, उज्जयिनी के वाक्-जयी जगवंदन!

बहु वरदानमयी वाणी के
कृपा-पात्र बहुतेरे,
देख तुम्हें ही, पर, वह बोली,
'कालिदास तुम मेरे';
दिया किसी को ध्यान, धैर्य,
करुणा, ममता, आश्वासन;
किया तुम्हीको उसने अपना
यौवन पूर्ण समर्पण;
तुम कवियों की ईर्ष्या के विषय चिरंतन।
ओ, उज्जयिनी के वाक्-जयी जगवंदन!

७

कविराजराज जयदेव, तुम्हारी जय हो !

देव गिरा से मैने पूछा,
'सबसे सरस-पुनीता
संपति क्या तेरे मदिर मे ?'
बोली, 'गीत कि गीता ।'

गीत कि जिसमें तुमने राधा-
माधव-केलि बखानी,

जग की जड़, मृत मर्यादा से निर्भय हो ।
कविराजराज जयदेव, तुम्हारी जय हो !

छुड़ा कृष्ण से भूमि-वासना—
व्रज-वधुओं की टोली,
जो लाया उस ठौर उन्हे, थी
जहाँ राधिका भोली,

मूर्ति बनी स्वर्गिक सुषमा की,
वैभव और विभा की,

युग-युग पृथ्वी पर पूजित पुण्य प्रणय हो ।
कविराजराज जयदेव, तुम्हारी जय हो !

औरों के आगे वाणी ने
बात कही या गाया,

या अपनी अद्‌भुत वीणा पर
कोई राग बजाया,

एक तुम्हारे ही उर-आँगन
में आकर वह नाची,

मंजीर-मुखर-प्रतिध्वनित पदों में लय हो ।
कविराजराज जयदेव, तुम्हारी जय हो !

कोमल-कांत पदावलियों की
पहुँचा दी वह सीमा
तुमने, देव, कि अब सब गाने-
वालों का स्वर धीमा;

जिस मग पर तुम चले सहज नृप
की गौरव गरिमा से,

गुणवंत धरेंगे अपने चरण सभय हो ।
कविराजराज जयदेव, तुम्हारी जय हो !

८

पंडित-राजा जगन्नाथ की तुमको याद दिलाता हूँ ।
गति उनकी थी सहज, ज्ञान के गहरे पारावारों में,
मान मिला था उनको राजों, शाहों के दरबारों में,
इन बातों से बहुत प्रभावित होनेवाले दुनिया में,
मैं सराहता क्योंकि एक वे थे जग के दिलदारों में ।
भीरु, नपुसक, पाखंडी के गीत नही मै गाता हूँ ।
पंडित-राजा जगन्नाथ की तुमको याद दिलाता हूँ ।

दक्षिण से उत्तर तक उनकी विद्वत्ता ने नापा था,
प्रतिभा उनकी देख महाविद्वानों का दल काँपा था,
पर जिससे दिल पुलके, पिघले, गले, ढले औ' बह जाए,
ऐसा भी तो राग उन्होने अपने कंठ अलापा था ।
सूखे, रूखे, रसहीनों के गीत नहीं मै गाता हूँ ।
पंडित-राजा जगन्नाथ की तुमको याद दिलाता हूँ ।

सुना कि उनके छंदों को सुन गंगा भी लहराई थी,
संग प्रिया के बैठे थे वे जहाँ, वहाँ तक आई थी,
लहरों ने जब दिया निमंत्रण तब निर्भय हो दोनों ने
मरा हुआ तट छोड़ अमरता की धारा अपनाई थी ।
निर्जीवो के, जड़-मुर्दों के गीत नहीं मैं गाता हूँ ।
पंडित-राजा जगन्नाथ की तुमको याद दिलाता हूँ ।

ठीक, उन्होंने एक सुनयनी यवनी को अपनाया था,
धर्म, समाज, प्रथा का सारा बंधन काट हटाया था,
प्यार किया करते हैं पौरुषवाले, क़ीमत देते हैं।
जिस कारण काशी के पंडों ने उनको ठुकराया था,
ठीक उसी कारण मैं उनको बीच सभा अपनाता हूँ।
पंडित-राजा जगन्नाथ की तुमको याद दिलाता हूँ।

९

रासो-रचनाकार, तुम्हारे प्रति मेरी वाणी आभारी।
विवश जीविकोपार्जन को मैं
हुआ न किस-किस पथ का राही,
पर मेरा वश चलता तो मैं
होता कवि के साथ सिपाही,
इसीलिए तस्वीर तुम्हारी,
वीर, बसी मेरे अंतर में,
घर पर चलता कलम, समर में चलती थी तलवार तुम्हारी।
रासो-रचनाकार, तुम्हारे प्रति मेरी वाणी आभारी।

इस विस्तीर्ण रसा सरसा पर
भाव भेद, रस भेद अलेखे,
अपने छोटे-से जीवन में
मैंने जितने जाने—देखे,
वीर और शृंगार यही दो
जिंदा दिल वालों के पाए,
अपने शौर्य-वीर्य से तुम थे इन दोनों के सम अधिकारी।
रासो-रचनाकार, तुम्हारे प्रति मेरी वाणी आभारी।

अपभ्रंश की ऊबड़-खाबड़
जो अनगढ़ चट्टान खड़ी थी,

लौह लेखनी से तुमने ही
काट-छाँट वह मूर्ति गढ़ी थी

भाषा की, जिसपर कवि पीढ़ी–
दर-पीढ़ी श्रम करते आए,

हिंदी हिंद देश में तुमने थी सबसे पहले अवतारी।
रासो-रचनाकार, तुम्हारे प्रति मेरी वाणी आभारी।

भाषा मूर्ति नहीं पत्थर की—
मेरे कहने में कुछ ग़लती—
अष्टधातु की वह प्रतिमा है,
जो हर युग में गलती-ढलती,

तुमने तत्व दिए जो उसको,
और मिले हैं उनमें आकर,
एक गला सबको करना है
अंतस्तल में ज्वाल जगाकर;

हो सहाय इस महायज्ञ में कुछ मेरे मन की चिनगारी।
रासो-रचनाकार, तुम्हारे प्रति मेरी वाणी आभारी।

१०

मिथिला के रसमय मधुवन के, हे, अमृतमय बोल सुहावन।
जिस राजा-रानी को तुमने
रच-रच करके गीत सुनाए,
है उनका अस्तित्व कहाँ पर,
अब इसको इतिहास बताए,
पर उर-पुर शासक तुम तब थे,
अब हो, और रहोगे आगे;
शरण भूप शिवसिंह-लखिमा के आज तुम्हारे ही पद पावन।
मिथिला के रसमय मधुवन के, हे, अमृतमय बोल सुहावन।

थे न कबीर, न सूर, न तुलसी
और न थी जब बाँवरि मीरा,
तब तुमने ही मुखरित की थी
मानव के मानस की पीरा,
कौन गया था कर, कवि-शेखर,
आकुल-कातर प्राण तुम्हारा ?
कुसुम शरीर, हृदय पाहन का कौन तुम्हारा था मनभावन ?
मिथिला के रसमय मधुवन के, हे, अमृतमय बोल सुहावन।

कहाँ विरत चैतन्य महाप्रभु,
कहाँ मनुज ममता-रत, कामी,

पर विद्यापति के चरणों के
दोनों हैं बरबस अनुगामी,

सहस विरोधों का आलिंगन
कर चलती जीवन की धारा,

भीगेगा, बच कौन सकेगा बरसेगा जब झर-झर सावन।
मिथिला के रसमय मधुवन के, हे,अमृतमय बोल सुहावन।

लुटा चुकी थी अपना सब धन-
वैभव जब देवों की वाणी,
देसिल बयनों की क्षमता थी
तुमने, कवि-रंजन, पहचानी;

अश्रु लकीर तुम्हारे गालों
पर की अब गंभीर नदी है;

बाल चंद मिथिला की छत का भारत के नभ का शशि पूरन।
मिथिला के रसमय मधुवन के, हे, अमृतमय बोल सुहावन।

निर्माता, तुमने नव कविता
का तन-मन इस भाँति सँवारा,
दूर-सुदूर भविष्य तुम्हारे
ही शब्दों का खोज सहारा,

'जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल' कहेगा;

लाख-लाख युग हिय-हिय बसकर होगा ही वह तिल-तिल नूतन।
मिथिला के रसमय मधुवन के, हे, अमृतमय बोल सुहावन।

११

पूर्व-पश्चिम है गुँजाते गीत जो,

हे पीर, तुमने बैठ करघे पर सुनाए।

कुछ बढ़ा दाढ़ी, रँगा कपड़ा महंती
चाल दुनिया को दिखाना चाहते हैं,
कुछ जलाकर काम बनकर हींजड़ा निज
नाम संतों में लिखाना चाहते हैं,

किंतु जो पहुँचे हुए दरवेश उनको
भेस धरने की जरूरत कब हुई है;

पूर्व-पश्चिम है गुँजाते गीत जो,

हे पीर, तुमने बैठ करघे पर सुनाए।

हाथ ढरकी और कंघी से लगे थे,
आँख ताने और बाने से बँधी थी,
किंतु तन के काम मन के धाम को
छूते नहीं थे, साधना ऐसी सधी थी,

औ' वहाँ पर बज रही बाजंतरी थी,
और अनहद नाद में था गान होता,

प्र'ध्वनित था कंठ करता शब्द केवल

जो कि ब्रह्मानंद ने थे गुनगुनाए।

पूर्व-पश्चिम है गुँजाते गीत जो,

हे पीर, तुमने बैठ करघे पर सुनाए।

कह गए तुम बात अनहद की जहाँ तक
कौन उसके पार की कहने खड़ा है,
किंतु जीवन की हदों के बीच में भी
कम नहीं कहने-सुनाने को पड़ा है,
मानवों के दिल, दिलों की हसरतों को,
आस को औ' प्यास को औ' वासना को,
शोक, भय, शंका, महत्वाकांक्षा को
आज रक्खा जा नहीं सकता दबाए।
पूर्व-पश्चिम हैं गुँजाते गीत जो,
हे पीर, तुमने बैठ करघे पर सुनाए।

जो नियंता ने हृदय मुझको दिया था
अनुभवों से तूल-सा मैंने धुना है,
और उससे कातना तागे स्वरों के—
काम अपने वास्ते मैंने चुना है,
तान फैली है, नरी भी है भरी-सी,
हे जुलाहेशाह, बोलो कौन सुखमन,
कौन दुखमन तार से बीनूँ चदरिया
जो कि मेरे और जग के काम आए।
पूर्व-पश्चिम है गुँजाते गीत जो,
हे पीर, तुमने बैठ करघे पर सुनाए।

१२

जायस के, हे, एक-नयन कवि, सगुन बनो तुम मेरे मग में ।
एक-दंत को सुमिर लेखनी
कवियों ने ली हाथ सदा ही,
एक-नयन की दीठ बचाता
आया, हर शुभ पथ का राही,
पर मैं शायर ढीठ, लीक से
हटने में संकोच मुझे क्या,
जायस के, हे, एक-नयन कवि, सगुन बनो तुम मेरे मग में ।

जिसका बल, जिसकी वत्सलता
जानी मैंने माँ के पय से,
जिसकी प्रेम-पकी मादकता
मलिक मुहम्मद की मधु मै से,
जिसकी पावनता, तुलसी के
चरणों से निकली सुरसरि से,
उस भाषा की त्रिगुण त्रिवेणी क्यों न बहे मेरी रग-रग में ।
जायस के, हे, एक-नयन कवि, सगुन बनो तुम मेरे मग में ।

किंतु हृदय की प्यास आज है
उन मधु घूँटों की अभिलाषी,

जिनको पाकर छुए भावना
अतल, कल्पना हो आकाशी,
पर हो अपना नीड़ बनाए
अनुभव की छाती के अंदर,
और व्यंजना नापे शब्दों की चौमापी अवनी डग में।
जायस के, हे, एक-नयन कवि, सगुन बनो तुम मेरे मग में।

उस मधुघट से होठ लगाने
दो मुझको भी, हे कवि दानी,
जिसमें डूब निकाली तुमने
पद्मावत की रतन-कहानी,
जिसकी प्रतिध्वनियाँ आती हैं
हर नर, नारी के चित, उर से,
जिससे उजियाला होता आया है हर प्रेमी के जग में।
जायस के, हे, एक-नयन कवि. सगुन बनो तुम मेरे मग में।

१३

बारंबार प्रणाम तुम्हें है, राम-चरित के अमित पुजारी।

उचित यही था, प्रथम तुम्हारे
चरणों में मैं शीश नवाता,
पर न दिया वह अवसर तुमने,
हे भारति के भाग्य-विधाता,

तुम पहले से आनेवाले
कवियों के प्रति नतमस्तक थे,

आर्य, तुम्हारे आदर का मै बन पाऊँ कैसे अधिकारी ?
बारंबार प्रणाम तुम्हें है, राम-चरित के अमित पुजारी।

तुमने अपने राम-सिया में,
रसिया, सब जग देख लिया था,
कितने नयन विशाल तुम्हारे,
कितना गहिर-गँभीर हिया था;

जीवन, काल, कर्म गति-पथ का
अंत कहाँ है ? कौन बताए ?

नहीं अभी तक पहुँचा कोई, जहाँ नही थी पहुँच तुम्हारी।
बारंबार प्रणाम तुम्हे है, राम-चरित के अमित पुजारी।

भला हुआ जो लगन तुम्हारी
दूर लक्ष्य की ओर लगी थी,

पाँव पड़ा करते थे भू पर,
आँख गगन के प्रेम पगी थी,

मग में तुमने ठुकराकर जो
छोड़ दिया उसको अपनाकर,

बहुत समय पर्यंत करेंगे अर्जन कीर्ति कलम-कर-धारी।
बारंबार प्रणाम तुम्हें है, राम-चरित के अमित पुजारी।

दो मुझको वरदान, तुम्हारे
काम किसी दिन मैं था आया,
राम-भगति बहुविधि वर्णनकर
जब तुमने संतोष न पाया,

तुमने मेरी ओर निहारा
और हृदय की ताली पाई,

याद तुम्हें आया, मैं ही वह कामी जिसको नारि पियारी ?
बारंबार प्रणाम तुम्हें है, राम-चरित के अमित पुजारी।

१४

सूर, पथ मुझको दिखाओ, पद-लगा मैं हूँ तुम्हारा।
मैं कहाँ पहुँचा कहाँ से
अनुसरण कर ध्वनि तुम्हारी,
किंतु सहसा वह धरणि को
छोड़ अंबर को सिधारी,
औ' प्रतिध्वनि को पकड़कर
ढूँढता कबसे तुम्हें मै,
सूर पथ मुझको दिखाओ, पद-लगा मैं हूँ तुम्हारा।

मौन बैठा आज आकर
एक सागर के किनारे,
हैं मुखर जिसकी तरगें
बोल दुहरातीं तुम्हारे,
बूँद आँसू की नयन में
डबडबाती-डोलती है,
खो गईं नदियाँ जहाँ, तू खोजने आई सहारा।
सूर, पथ मुझको दिखाओ, पद-लगा मैं हूँ तुम्हारा।

पर नहीं; इन लाख लहरों
में नही है एक ऐसी,
जीभ पर जिसके नहीं है
बात बिल्कुल ठीक वैसी,

तुम बता जैसी गए थे;
भावना मेरी छुओ तो,
नित नई स्वर-लिपि करेगी व्यक्त मेरी अश्रु-धारा।
सूर, पथ मुझको दिखाओ, पद-लगा मैं हूँ तुम्हारा।

था सहज-विश्वास का युग
जबकि तुमने गीत गाया,
और मैं सदेह, शंका,
संशयों का हूँ सताया।
मैं तुम्हारे श्याम से तुमको
अधिक सच मानता हूँ,
जब मुझे भगवान कहना था, तुम्हें मैंने पुकारा।
सूर, पथ मुझको दिखाओ, पद-लगा मै हूँ तुम्हारा।

१५

मीरा, मेरे मन का मंदिर करता है तेरी अगवानी ।

तेरे मन-मंदिर के अंदर
गिरिधरलाल बसा करते है,
और अवश्य मुझे रजकण से
लिपटा देख हँसा करते है;

वे न कभी मिट्टी से खेले,
मैं उनको किस भाँति बुलाऊँ;

मीरा, मेरे मन का मदिर करता है तेरो अगवानी ।

तेरे पद-घुँघरू का रव-रस
था बचपन में कान समाया,
औ' उसने चित्तौड़ किले के
भीतर मुझको ला बिठलाया.

उस वेदी के आगे जिसपर
तू तन्मय नाचा करती थी;

और वही पर गाया मैने,'वह पगध्वनि मेरी पहचानी ।'
मीरा, मेरे मन का मदिर करता है तेरी अगवानी ।

तेरे अंतर का स्वर था जो
भारत के घर-घर में गूँजा,

शब्दों ने दीवाला बोला
किंतु हृदय का भाव न पूजा,
फिर भी अपने अटपट बयनों
से तू कितना कुछ कह जाती !
तू पहुँची उस ठौर जहाँ पर पहुँच नहीं पाती है वाणी।
मीरा, मेरे मन का मंदिर करता है तेरी अगवानी।

सूली ऊपर सेज सजाकर
तू अपने पी के सँग सोई,
मिलन-घड़ी में गाया तूने
जो फिर क्या गाएगा कोई,
गाना दूर अभी तो तुझसे
मुझे सीखना है तुतलाना,
शूल,फूल,कलि,ओस,दूब, दल तक सीमित मेरी नादानी।
मीरा, मेरे मन का मंदिर करता है तेरी अगवानी।

१६

कठिन काव्य के प्रेत, न डालो
मुझपर अपनी छाया;
सरल स्वभाव, सरल जीवन को
मैने मत्र बनाया।

मेरे कुछ अगुओं को तुमने
आ अनजाने घेरा,
जिससे उनका काव्य-भवन बन
गया भूत का डेरा।

क्लिष्ट कथन है गाँठ हृदय की
शब्दों के बाने में;
जिसने गाँठ नहीं पड़ने दी
क्यों अटके गाने में,

क्यों भटके कोशों की गलियों
में सूनी, अँधियारी।
कविता, जगती के प्रांगण में
जीवन की किलकारी।

भूत उसी घर मे बसता है
जिसके बंद किवाड़े,
बद खिड़कियाँ, नही झाँकते
जिसमें रवि-शशि-तारे ।

मुक्त गगन में मुक्त पवन को
आठों पहर निमंत्रण,
आओ, जाओ, अपना घर है,
बादल, विहग, प्रभंजन !

भर दो मेरे अतराल को
चहक, चमक, गानों से,
इंद्र-धनुष के सतरंगों से
बिजली के बाणों से।

कठिन काव्य के प्रेत, कभी क्या
तुमने मन-पट खोला ?
क़लम तुम्हारा बहुत चला, पर
कभी हृदय भी बोला ?

एक बार, जब चंद्रमुखी ने
'बाब।' तुम्हें पुकारा,
एक बार तब खुली तनिक-सी
तमक तुम्हारी कारा ।

तब जीवन की हविस विवशता
में अपनी मुसकाई,
पत्थर ने जैसे छाती में
चिन्गारी दिखलाई।

एक उसी क्षण की खातिर मैं
याद तुम्हें करता हूँ,
वर्ना तुमसे और तुम्हारे
भक्तों से डरता हूँ।

कठिन काव्य के प्रेत, न डालो
मुझपर अपनी छाया;
सरल स्वभाव, सरल जीवन को
मैने मंत्र बनाया।

१७

रहिमन, एक समाधि तुम्हारी मेरे मन के अंदर भी है।

सुना निजामुद्दीन जहाँ है
वही कहीं मकबरा तुम्हारा,
और गुज़रता कई खँडहरों
से मैं उसके पास पधारा,
उखड़े गुबद, गिरती मेहराबों
के नीचे तुम सोए थे,
और कहा जाता है हिंदी भाषा जाग्रत-सजग अभी है।
रहिमन, एक समाधि तुम्हारी, मेरे मन के अंदर भी है।

जैसे ही अपनी श्रद्धा के
मैने तुमको फूल समर्पे,
मुझको लगा कि तुम उठ बैठे,
सहसा मेरे तन-मन डरपे,
दीवारों से निकल तुम्हारे
बरवै, दोहों की ध्वनि आई,
पूछूंगा, क्या ऐसा अनुभव हुआ किसीको और कभी है।
रहिमन, एक समाधि तुम्हारी मेरे मन के अंदर भी है।

जर्जर दीवारों के मुख से
बोल रही थी अजर जवानी,

मरी हुई मिट्टी करती थी
मुखरित अमर क्षणों की वाणी,
जिंदा दिल, जिंदा बोलों को
समय नही छूने पाता है,
नही, काल की छाया के ही नीचे यह संसार सभी है।
रहिमन, एक समाधि तुम्हारी मेरे मन के अंदर भी है।

भ्रम था, हिली न कब्र, न पत्थर-
ईटो से प्रतिध्वनियाँ आई,
केवल वह बोला—की जिसने
थी मेरे उर मे पहुनाई,
ज़िदा वह है जो औरों के
दिल में अपनी जगह बनाए,
रहे न अपना, कहे न अपनी, संभव यह संयोग तभी है।
रहिमन, एक समाधि तुम्हारी मेरे मन के अदर भी है।

१८

नर कवि भारतेन्दु गर होते आज, उन्हें भर कंठ लगाता।

उनकी आँख समझती मुझको
अपने को मुझको समझाती,
मेरी छाती की धड़कन का
उत्तर देती उनकी छाती,

नाम, काम, गुण, पद, वैभव के
भेद न कोई बीच ठहरते,

माना करते थे वे सबसे बढ़कर स्वर-शब्दों का नाता।
नर कवि भारतेन्दु गर होते आज, उन्हें भर कंठ लगाता।

रंग, राग, रति, रूप, गंध, रस
में वे अंग-अंग डूबे थे,
रुपया-आना-पाई-चिन्तित-
चालित जगती से ऊबे थे,

रोम-रोम उनका प्यासा था
किंतु उदार-मना थे इतने,

सागर-सा आदर देते थे जो उन तक था गागर लाता।
नर कवि भारतेन्दु गर होते आज, उन्हें भर कंठ लगाता।

तब मेरी साँसों के अंदर
आँधी का पौरुष बल होता,

तब मेरे आँसू की छल-छल
में लहरों का कल-कल होता,
दुनिया लेकर सूप बनाती
बाँध रीति के, नीति-नियम के,
सिंधु-रुखी सावन सरिता-सा मै अबाध बहता उफनाता।
नर कवि भारतेन्दु गर होते आज, उन्हें भर कंठ लगाता।

तब गीली-सीली लकड़ी-सी
जल-जल कटती उम्र न मेरी,
जीवन की सारी समिधा की
बाँकी एक लगाकर ढेरी
आग उन्हीकी भाँति लगा देता,
जब तक जग देखे–देखे,
एक लपट में भू से उठकर अंबर छूकर मै बुझ जाता।
नर कवि भारतेन्दु गर होते आज, उन्हे भर कठ लगाता।

१६

मैथिली शरण थे हिंदी के हित आए ।
पड़ी हुई थी एक बालिका
अनचाही, असहायी,
अल्प वयस की, देख विवश ही
कवि-छाती भर आई,
मिथिलापति मैथिली, कण्व मुनि
शकुंतला को जैसे,
वैसे ही उसको गोद उठा घर लाए ।
मैथिली शरण थे हिंदी के हित आए ।

तुतलानेवाली को क्रमशः
गाना गीत सिखाया,
औ' घुटनों चलनेवाली को
नर्तन-कुशल बनाया,
आजीवन साधना उन्हीकी
आज खड़ी बोली जो,
युग-देश,प्रकृति,संस्कृति के साज सजाए ।
मैथिली शरण थे हिंदी के हित आए ।

किसे छोड़ते है जीवन में
कठिन समय के फेरे,

दुर्भाषा का शाप इसे भी
बहुत दिनों था घेरे,

कटा उन्ही के तप से, अब यह
भारत-भाषाओं में

पटरानी का अधिकार पूर्ण पद पाए।
मैथिली शरण थे हिंदी के हित आए।

क्या न मिला उनसे, पाने की
जो रक्खे यह आशा,
जग विख्यात, नही होती है
मृषा देव-ऋषि भाषा,

अपना ब्रह्म जगा बस कह दें,
मेरी यह मुँहबोली

मुँहबोली सब जन-भारत की बन जाए।
मैथिली शरण थे हिंदी के हित आए।

२०

सिहिनी शिशु को देकर जन्म
चल बसी थी जगल में एक,
उधर से गुजरी कोई भेड़,
हुआ उसमे ममता–उद्रेक।

पिलाकर अपने तन का दूध
लिया उसने वह लघु शिशु पाल,
हुआ बढ़कर वह भेड़-स्वभाव,
लगा चलने भेड़ों की चाल।

किसी दिन भेड़-झुड के साथ
घूमता था जव सिंह-किशोर,
अचानक आकर गरजा शेर
भगी भेड़े सब इस-उस ओर।

और उनके ही साथ, समान
भगा जी लेकर सिह-कुमार,
अंत में एक नदी के तीर
थमा बन-खंड कई कर पार।

हाँफता, डरता कंपित-गात
बुझाने के हित अपनी प्यास

झुकाया ज्योंही उसने शीश
हुआ उसको सहसा आभास...

अरे ! मै भी तो सिंह-सपूत,
मुझे यों डरना था बेकार;
और की उसने एक दहाड़
कि जिससे काँप उठा कांतार ।

हुई थी मेरे मन की ठीक
वही हालत, जिस दिन, जिस याम,
निहारा था मैंने निज रूप
तुम्हारे प्याले में, खैयाम !

तुम्हारी मदिरा से जिस रोज
हुए थे सिंचित मेरे प्राण,
उसी दिन मेरे मुख की बात
हुई थी अंतरतम की तान !

२१

सौगंध खुदी की, मै आहिस्ता बोलूँगा,
कहने दो कुछ टुक बैठ मीर के पैताने ।

जिन रातो को सारा आलम सोया करता,
उनमे सयमधर, शायर जागा करते है,
जिन दे-लें की रातों मे जगती जगती है,
उनसे वे आँख चुराकर भागा करते है;
जिनमे जगते दिखते थे, उनमें सोते थे,
जिनमें वे रोते-सोते, उनमें जगते है;
सौगंध खुदी की, मै आहिस्ता बोलूँगा,
कहने दो कुछ टुक बैठ मीर के पैताने।

सच पूछो तो उनके हिस्से मे कोई भी
थी घड़ी नही ऐसी कि मीर आराम करें,
शायरी चाहती थी कि शाम को सुबह करे,
जिदगी चाहती थी कि सुबह को शाम करे,
पैरो मे चक्कर था, दिमाग में चक्कर था,
बेकस, बेबस, बेघर फिरते ही उम्र कटी,
यह एक उम्र का सफ़र थकाता है कितना !
जो लेटा, उठता नही कि फिर चलना जाने।

सौगंध खुदी की, मै आहिस्ता बोलूँगा,
कहने दो कुछ टुक बैठ मीर के पैताने ।

है याद सफ़र जो किया उन्होंने दिल्ली से
लखनऊ तलक, हमराही बोला, बात करें,
लेकिन जब उसने बात शुरू की तब बोले,
'मत और बोलकर कानों को बर्बाद करे,
है दिया किराया साथ सफ़र कर सकते है,
लेकिन जबान मेरी क्यों आप ख़राब करे ।'
वे काश क़ब्र से डॉट पिला सकते उनको
जो शब्द उगलते बे परखे, तोले, छाने ।
सौगंध खुदी की, मै आहिस्ता बोलूँगा,
कहने दो कुछ टुक बैठ मीर के पैताने ।

कब मीर कब्र मे लेट नीद ले सकते हे
जब शोर-सुखन उनका है चारों ओर मचा,
जिसपर शायर सुख से सोए, सपना देखे,
विधना ने ऐसा बिस्तर अब तक नहीं रचा;
वह कभी नही मदहोशों मे, मयख्वारों में,
वह देश-जाति-भाषा के पहरेदारों में,
कोई न खड़ी बोली लिखना आरंभ करे
अंदाज मीर का बे जाने, बे पहचाने ।
सौगंध खुदी की, मैं आहिस्ता बोलूँगा,
कहने दो कुछ टुक बैठ मीर के पैताने ।

२२

गा़लिब, वह ग़लबा ला दो मेरे जीवन मे
जिससे मेरा अंदाजेबयाँ कुछ और बने !

क्यों शेर तुम्हारे मुझको ऐसे लगते है
जैसे घोले हों जीवन की सच्चाई मे,
जैसे बोले हों वे प्राणों की भाषा मे
जो नही पड़ा करती है हाथापाई मे

सिद्धांत, विचार, विवादो, वादों, नारो की,
जो पेशेवर अख़बारनवीस कराते है ?
ग़ालिब, वह गलबा ला दो मेरे जीवन में
जिससे मेरा अंदाजेबयाँ कुछ और बने !

मै ने तुमको है पढ़ा नही मुर्दा जिल्दो
मे बैठ बल्ब के नीचे काली रातों में,
मैने तुमको है सुना ज़िदगी के मुँह से
मन के सौ आघातों में, प्रत्याघातो मे,

शब्दो से मैंने राज तुम्हारा कब पूछा ?
पूछा है मैने दिल्ली से, मेहरौली से,
जिसकी सड़कों के ऊपर तुम भटके-भूले,
जिसकी गलियों के तुमने फिर-फिर मोड़ गिने।

ग़ालिब, वह गलबा ला दो मेरे जीवन में
जिससे मेरा अंदाजेबयाँ कुछ और बने !

शायर के दिल में इंकलाब जब आता है,
उसकी चर्चा कब होती छापेखानों में,
पर भावों का सैलाब उठा करता है जब
महदूद नही वह रहता है दीवानों में,
उन सब कविताओं को मै मरी समझता हूँ
एरियल कान का जिनको नहीं पकड़ता है,
रेडियो जबाँ का जिन्हें नही फैलाता है;
उनका हर अक्षर कृमि-कीटों का कौर बने
गालिब, वह ग़लबा ला दो मेरे जीवन मे
जिससे मेरा अदाजेबयाँ कुछ और बने !

दिल्ली आया हूँ, उठता आज सवाल नही,
हम दिल्ली में तो रहें मगर खाएँगे क्या,
नेहरू की दिल्ली का यह सबसे बडा प्रश्न,
हम दिल्ली मे तो रहे मगर गाएँगे क्या,
जो कौम नही गाती है वह मिट जाती है,
लेकिन यह कैसे संभव हो खाएँ नेहरू
की दिल्ली मे, गाएँ गालिब की दिल्ली में,
कैसे दुनिया का यह जादूई दौर बने।
गालिब, वह गलबा ला दो मेरे जीवन में
जिससे मेरा अदाजेबयाँ कुछ और बने !

२३

मुल्क में, इकबाल, जो तुम भर गए थे, वह सदा फिर-फिर निकलती।
जो हृदय को चीरकर आवाज़ उठती,
वह हृदय को चीरकर अंदर समाती,
और जो अंदर समाती, साँस बनती,
प्राण बनती, रक्त बनती, कसमसाती,
यह बदलता काल कविता का अमर स्वर
गाल में रखकर कुचल सकता नही है।
मुल्क में, इकबाल, जो तुम भर गए थे, वह सदा फिर-फिर निकलती।

सरस पथ पर, शुष्क पथ पर, शून्य पथ पर
तुम चले, ऐसा सफ़र था ज़िंदगी का,
और जिस पथ पर चलें, गाते चलेंगे
सैनिकों का, शायरों का है तरीका;
शुष्क पथ के गीत गढ़ते रूढ़ियों को,
शून्य पथ के, गूढ, बूढ़ों के लिए है,
पर सरस ध्वनियाँ तुम्हारी है जवानों के कलेजों में मचलती।
मुल्क मे, इक़बाल, जो तुम भर गए थे, वह सदा फिर-फिर निकलती।

जिस समय मेरी जवानी ने दिलों की
बात सुनने की ग़रज़ से कान खोले,
प्रौढ़ स्वर में उस समय टैगोर बोले
पूर्व से, पच्छिम तरफ़ इक़बाल बोले,
और मुझको यह लगा जैसे प्रकृति औ'
पुरुष मिलकर प्रेम-कोरस छेड़ बैठे;
और जो मै गुनगुनाया, बस उन्हींकी गूँज की कुछ-कुछ नक़ल थी।
मुल्क में, इकबाल, जो तुम भर गए थे, वह सदा फिर-फिर निकलती।

हाँ, सुना मैने कि वह हिंदोस्ताँ का
गान पाकिस्तान मे गाना मना है,
किंतु वह भी था तुम्हारा हिंद जो
दौरेज़माँ से टूट पाकिस्ताँ बना है;
जो कलामों से तुम्हारे खेल करना
चाहते है, बात इतनी-सी समझ ले,—
देश की सीमा बदलती है; नही, पर, पंक्ति शायर की बदलती।
मुल्क में, इकबाल,जो तुम भर गए थे, वह सदा फिर-फिर निकलती।

२४

भारती की सुप्त वीणा को तुम्हीने फिर जगाया और गाया।

जातियाँ जाती पतन की ओर को जब
कंठ पहले वे गँवाती,
और जब उत्थान को अभियान करतीं
तब प्रथम आवाज आती,

पूर्व से पच्छिम तलक, गुरुदेव, गूँजा
नाद जो, वह था तुम्हारा,

भारती की सुप्त वीणा को तुम्हीने फिर जगाया और गाया।

एक आश्रम छोड, आए चीरते तुम
काल का घनतम अरण्यक,
और तुमने तोड़ फेका यामिनी का
जाल जादू का यकायक,

जोड़ दी बीते युगों की शृंखलाएँ
साथ, जो टूटी पडी थीं,

दिव्य भारत भूमि के अमरत्व का स्वर विश्व को तुमने सुनाया।
भारती की सुप्त वीणा को तुम्हीने फिर जगाया और गाया।

है मुझे दावा, समझता हूँ गगन की
तारिका जो बात कहती,
जो अधर में खग चहकते, और गाती
जो नदी की धार बहती,
शब्द-अर्थों की परिधि को पारकर जो
घूमती है ध्वनि तुम्हारी,
प्र'ध्वनित मैंने उसे कितने क्षणों मे है हृदय के बीच पाया।
भारती की सुप्त वीणा को तुम्हीने फिर जगाया और गाया।

बीज मैं उनको कहूँगा जो उगाएँ
पेड फिर से बीज वाले,
दीप मै उनको कहूँगा जो कि अपनी
आग से फिर दीप बाले,
वह लहर है जो लहर को जन्म देती,
और आगे को बढ़ाती,
है मुझे विश्वास, तुमने ही मुझे है आज ऊपर को उठाया।
भारती की सुप्त वीणा को तुम्हीने फिर जगाया और गाया।

२५*

मै नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।
याद करूँगा सबसे पहले
मै तो यह वरदान तुम्हारा—
तुमने 'गीतांजलि' के भावों
को अंग्रेजी में अवतारा।

चतुर कीमियागर, चाँदी की
प्रतिमा जो गुरुदेव-रची थी,

उसको लेकर तुमने उसपर फेर दिया सोने का पानी।
मै नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

कंठ तुम्हारा फूटा था जब
गिरा हो रही थी जर्जर-स्वर,
कला कला के हेतु हुई थी
जन-मन संघर्षों से बचकर,

भूषा-वेश विचित्र किए कवि
अपनी छाया पिछुआते थे।

---

* इस गीत पर एक टिप्पणी पुस्तक के अंत में दी गई है।

अपने मूक देश को मुखरित करने की तुमने, पर, ठानी।
मै नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

आजादी के जद्दोजहद में
जूझ रहे थे जब दीवाने,
लगे हुए थे तुम लिखने में
नाटक, गल्प, निबंध, तराने,

गाने जिनके शब्द-शब्द से
रूह बोलती भी आयर की,

आयर का इतिहास, पुरा-विश्वास-कल्पना-कर्म कहानी।
मै नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

स्वप्न-ढकी दुनिया से लेकर
नगी दुनिया की सच्चाई
तक जो भी तुमने अपनाई
निर्भय, निर्लज्जा अपनाई,

और सुनाए मीठे-कड़ुए
अनुभव सब जीती भाषा में

जिनको जग, जीवन, युग से डर, भरी हुई है उनकी वाणी।
मैं नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

वाणी अंत नही अपने में,
हे कवि कर्मठ, उसके द्वारा

मुझे शुरू से ही लगता था
आकर्षक व्यक्तित्व तुम्हारा,
अलग सबों से प्रकट प्रवाही
थी तुमने अपनी ध्वनि-धारा,

मै गाऊँ तो मेरा कंठ—
स्वर न दबे औरों के स्वर से

जीऊँ तो मेरे जीवन की औरों मे हो अलग रवानी।
मै नतशीश तुम्हारे आगे, आयर के शायर अभिमानी।

२६

ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।
दो सहस्र वर्षो के पहले
महाकाव्य जो पाषाणों मे
तुमने लिखा, उसे पढ़ पाना
था मेरे उन अरमानो मे
जिनके पूरा हुए बिना मैं
अपना जन्म अधूरा कहता,
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।

काल, प्रकृति, दानव, मानव के
दुसह कराघातों को सहते,
ऊँचा अपना भाल उठाए
अपनी पुण्य कथा तुम कहते,
अनहद नाद तुम्हारा सुनकर—
सुना, अनसुना भी बहुतो को—
कोई कह सकता है उसने बात सुनी गंभीर गगन की।
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।

कहाँ गए औजार कि जिनसे
तुमने ये रेखाएँ आँकी,
कहाँ यंत्र-कल रची जिन्होंने
कुशल तुम्हारी छेनी-टाँकी,

कहाँ गए वे साँचे जिनमें
ये नैसर्गिक रूप ढले थे,

ये जिज्ञासाएँ सदियो तक बनी रहेंगी विषय मनन की।
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।

कला नही बसती पत्थर में,
स्वर मे, रगो की श्रेणी में,
बाजंतर मे, कंठ, लेखनी
मे, तूली, कोली, छेनी में;

कोई मंदर जब जन-अतर
मंथन करता, स्वप्न उघरते,
कला उभरती, कविता उठती,
कीर्ति निखरती, विभव बिखरते;

मैने भी देखी है ऐसी एक बड़ी हलचल जीवन की।
ओ साँची के शिल्प साधको, बनो प्रेरणा मेरे मन की।

२७

ओ अंजता की गुफाओ के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

चार मुर्दा शब्द की माला बनाकर
मैं अमरता को पिन्हाना चाहता हूँ,
और यह हासास्पद खिलवाड़ करने
के लिए मै नाम पाना चाहता हूँ;
तुम अमरता की लकीरें खीच उनके
बीच अन्तर्धान कैसे हो गए हो !
ओ अजंता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

मै तुम्हारी जाति का हूँ, देश का हूँ,
पर तुम्हारे काल औ', मेरे समय में
फ़ासला जो पड़ गया, किस भाँति उसने
कर दिया है फ़र्क मस्तिष्कोहृदय में !
क्या कला है ? क्या कलाकृति ? क्या कलाधर ?
औ' कला का किसलिए अवतार होता ?

आज इन पर वाद और विवाद बहुधा,
तुम न, मर्मी, मौन धारो।
ओ अजंता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

काम जिनका बोलता है वे कभी भी,
वे किसीसे भी नही कुछ बोलते है,
और हम जो बोलने का काम करते
शोर करके पोल अपनी खोलते है,
जीभ अपनी, आँख अपनी, साँस अपनी
और अपना प्राण-जीवन जो तुम्हें दे—
कर गए, उनकी बताओ मान्यताएँ,
चारु चित्रों की क़तारो !
ओ अजंता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

इस जगह सिद्धार्थ घर को त्याग अपने
रत्न-आभूषण बदन से दूर करते,
इस जगह पर कामिनी के कर कलामय
उँगलियो से उस कमी को पूर्ण करते,
जो प्रकृति ने छोड़ दी है नारि अंगों
पर, प्रसाधन और शत मुक्ताभरण से,
कौन सामजस्य रखता बीच, लौकिक
और नैसर्गिक नज़ारो !

ओ अजंता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

•

इस जगह अमिताभ जग-पीड़ित जनो पर
शांतिकर शीतल सुधा धारा बहाते,
इस जगह यौवन-सुरा में मत्त नायक
रमणियों को प्रेम की मदिरा पिलाते,
गोद मे बैठालकर, भुजपाश मे भर।
राग और विराग जैसे मिल रहे है
इस गुहा मे, उस तरह मुझमें मिलाकर
पंक्तियाँ मेरी सँवारो।
ओ अजता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

स्वप्न जीवन का, कला है; जोकि जीवन
में, निखरकर वह कला से झाँकता है;
यह महज़ दर्पण नही है, दीप भी है
जो अमरता के शिखर को आँकता है,
औ' कलाधर को सतत संकेत करता,
बधनों में जो न बँधता वह बढ़ाता
पाँव उसकी ओर। ओ, गिरि-शृंग के
आरोहियो, मुझको पुकारो।
ओ अजंता की गुफाओं के अनामी,
यश-अकामी चित्रकारो !

२८

खजुराहो के निडर कलाधर, अमर शिला मे गान् तुम्हारा ।
पर्वत पर पद रखने वाला
मैं अपने क़द का अभिमानी,
मगर तुम्हारी कृति के आगे
मै ठिंगना, बौना, बे-बानी,
बुत बनकर निस्तेज खड़ा हूँ ।
गुंजारित हर एक दिशा से,
खजुराहो के निडर कलाधर, अमर शिला में गान तुम्हारा ।

धधक रही थी कौन तुम्हारी
चौडी छाती मे वह ज्वाला,
जिससे ठोस-कड़े पत्थर को
मोम गला तुमने कर डाला,
और दिए आकार, किया शृंगार,
नीति जिनपर चुप साधे,
किंतु बोलता खुलकर जिनसे शक्ति-सुरुचिमय प्राण तुम्हारा ।
खजुराहो के निडर कलाधर, अमर शिला में गान तुम्हारा ।

एक लपट उस ज्वाला की जो
मेरे अंतर में उठ पाती,
तो मेरी भी दग्ध गिरा कुछ
अंगारों के गीत सुनाती,
जिनसे ठडे हो बैठे दिल
गर्माते, गलते, अपने को
कब कर पाऊँगा अधिकारी, पाने का, वरदान तुम्हारा।
खजुराहो के निडर कलाधर, अमर शिला में गान तुम्हारा।

मै जीवित हूँ, मेरे अंदर
जीवन की उद्दाम पिपासा,
जड़ मुर्दों के हेतु नही है
मेरे मन मे मोह जरा-सा,
पर उस युग में होता जिसमें
ली तुमने छेनी-टाँकी तो
एक माँगता वर विधि से, कर दे मुझको पाषाण तुम्हारा।
खजुराहो के निडर कलाधर, अमर शिला मे नाम तुम्हारा।

२६

भुवनेश्वर की प्रणय-पत्रिका लिखनेवाली, ओ पाषाणी !
माना मैंने पलक उठाकर
देख नहीं मुझको पाओगी,
किंतु न था विश्वास कि मेरी
बोली को भी बिसराओगी;
भोली, अपने निर्माता को
ऐसे भूल नहीं जाते हैं;
क्या कहलाओगी फिर मुझसे पूर्व जन्म की पूर्ण कहानी ?
भवनेश्वर की प्रणय-पत्रिका लिखनेवाली, ओ पाषाणी !

जाना था तुम फिर न मिलोगी
पर आशा थी लिखकर पाती,
कभी बताओगी, पूछोगी,
क्या कहती, क्या सहती छाती;
एक तुम्हारा रूप रात-दिन
आँखोंमें नाचा करता था—
बैठ कहीं तुम नीरव रेखा के अंदर भरती हो वाणी ।
भुवनेश्वर की प्रणय-पत्रिका लिखनेवाली, ओ पाषाणी !

पर न कभी जब पाती आई
तब वह कल्पित रूप तुम्हारा
मैंने मन को दृढ करने को
एक शिला को काट निखारा—

हाथ रुका है, कलम थमा है,
रमे हुए हैं दृग चिंतन में,

कौन हृदय का भाव कि जिनके जोग शब्द की खोज, सयानी ?
भुवनेश्वर की प्रणय-पत्रिका लिखनेवाली, ओ पाषाणी !

क्या न मिलेगा, और अधूरी
पाती पूरी हो न सकेगी ?
जन्म-जन्म क्या उसको पाने
को मेरी आशा तड़पेगी ?

काश कलाधर तुम भी होती
और प्रतीक्षाकुलता मेरी

एक अटल पत्थर के अंदर मूर्तिमती करती, कल्याणी !
भुवनेश्वर की प्रणय-पत्रिका लिखनेवाली, ओ पाषाणी !

३०

ललित कॉगडा कलम कलित के रसिक-सुजान चलाने वालो !
देख तुम्हारी रेखाओं में
जो चिकनाहट, चटक, सफ़ाई,
घेर, घुमाव, कसाव, ढलावट,
लोच, लटक, बल, मोड़, निकाई,
सोच नही पाता हूँ कितनी
सहलाई होगी जीवन की
काया तुमने, भर हाथों मे प्यार, कला के नाम निहालो !
ललित कॉगड़ा कलम कलित के रसिक-सुजान चलाने वालो !

अपनी मर्मस्पर्शी तूली
से तुमने जो रूप निखारे,
वे मेरे नयनों मे झूमे,
घूमे कितने साँझ-सकारे,
उनकी करता खोज फिरा हूँ
कितनी रातो, कितनी राहों
पर. ऊँची, नीची, पथरीली, तुम बतलाओ, पग के छालो !
ललित कॉगड़ा कलम कलित के रसिक-सुजान चलाने वालो !

फलक-रंग ये पलक समाते
तो भी भाव-तरंग उठाते,
पर ये पहुँच निकट श्रवणों के
यौवन का आख्यान सुनाते,

मेरी पंक्ति-पक्ति में गुफित
हो ऐसा ही एक फ़साना,

मैं तुमसे सीखूँ, समझूँ कुछ, मुझको अपने बीच बिठा लो।
ललित काँगडा कलम कलित के रसिक-सुजान चलाने वालो !

जीवन क्या है ? और कला क्या ?
क्या युग का मन मंथन करता ?—
ऐसा वर्त कहाँ जो तीनों
को अपनी बाहों मे भरता;

मै इसको अंकित करने में
असफल ही होता आया हूँ,

मेरा अथिर, अनिश्चित, कंपित हाथ पकड़ कर आज सँभालो।
ललित काँगडा कलम कलित के रसिक-सुजान चलाने वालो !

३१

आज काँगडा की घाटी का राग बसे छाती में।
अनजानी सदियों से जिसके
ज़िंदादिल नर-नारी
ज्वाला देवी के आराधक
साधक, भक्त, पुजारी—
जो जिसके मन डोला करता
मुख से बोला करता—
आज काँगड़ा की घाटी का राग बसे छाती मे।

औ' बहता है व्यास जहाँ ले
शत-शत निर्झर-नाले,
करते बात, उसासे भरते,
गाते गीत निराले,
गर्जन करते पाषाणों पर
जो उनका पथ रोके,
लड़ते तट, मिलते पनघट से निज गति मदमाती मे।
आज काँगड़ा की घाटी का राग बसे छाती में।

जिनकी यति में आग, और है
जिनकी गति में पानी,
वही जानते ललक ज़िंदगी
क्या है, बलक, जवानी।

उनके बीच बसा मैं कुछ दिन
उनकी रति-मति जानी,

उनका स्नेह कहीं संचित है मेरी मन-बाती में।
आज काँगड़ा की घाटी का राग बसे छाती में।

जो गाती हो, उनकी होगी
कैसी आशा-निराशा,
कैसी प्यार, मरण, जीवन की
क्रान्तिकरी परिभाषा—

'चद्दर फटे ताँ लाई लैणी टल्ली,
अबर फटे कियाँ सीना,
खसम मरे हो जाँदा गुज़ारा,
यार मरे कियाँ जीना!'

भाग कभी क्या होगा मेरा भी उनकी थाती में।
आज काँगड़ा की घाटी का राग बसे छाती मे।

३२

जब व्यास उसासें भरता था,
मैं कैसे जाकर सो जाता!

पाषाणों की दीवार उधर,
पाषाणों की दीवार इधर,
अंबर की छाजन से लटके
तारों के दीपक तितर-बितर,

पत्थर के निर्मम बिस्तर पर
करवट पर करवट बदल-बदल

जब व्यास उसासे भरता था,
मै कैसे जाकर सो जाता!

कुल्लू की घाटी में जीवन
दिन ढलते ही ढल जाता है,
इक्का-दुक्का आता-जाता
डरता है और डराता है;

पर्वत की रूह अँधेरे में
जैसे विचरण को निकली हो;

कोई गाता तो स्वर उसका
जल के स्वर में लय हो जाता।
जब व्यास उसासें भरता था,
मै कैसे जाकर सो जाता!

मैंने अपने को समझाया,
यह सिर्फ़ नदी का पानी है;
यह ख़ामख़याली है इसके
पीछे कुछ प्रेम कहानी है,
ऊपर से नीचे बहता है,
क्या सहता है, क्या कहता है;
कवि देख नजारे ऐसे ही
अपने ख़्वाबों में खो जाता।
जब व्यास उसासें भरता था,
मैं कैसे जाकर सो जाता!

मंगल जब चोटी पर पहुँचा
तब देखा 'जीनी' आती है;
जो बात यहाँ दी जाती है,
निश्चय पूरी की जाती है,
अब मौन मुझे धारा लगती,
अब मौन किनारा लगता है;
ऊपर तारे, मेरे सिर के
नीचे 'जीनी' की छाती है,

जिसके अन्दर मुझको लगता
सौ व्यास उसासें भरते हैं;
जो व्याकुल मन थिर करते है,
मैं, काश कि, अपने गीतों में
कुछ ऐसे अर्थ समो पाता!
जब व्यास उसासें भरता था,
मैं कैसे जाकर सो जाता!

३३

मैं हूँ उनका पौत्र, पड़ा था जिनके पाँव गदर का गोला।

सीख चुका हूँ अब मै दोनों,
घायल करना, घायल होना,
बालपने में चोटें खाकर
जब कि शुरू करता था रोना—
धोना, झुकी कमर के बूढ़े
कुछ तनकर यह बतलाते थे,
तुम हो उनके पौत्र, पड़ा था जिनके पाँव ग़दर का गोला।

सुना फ़िरंगी फ़ौजें आती,
लेकर तेग जगत पर बैठे,
बाँधे हुए कमर में फेंटा
सिर पर पगड़ी, मूँछे ऐंठे;
हुक्म ज़नाने में पहुँचाया—
कूद कुएँ में जायँ घमाघम,
गोरी टुकड़ी ने आकर यदि इस बखरी पर हमला बोला।
मैं हूँ उनका पौत्र, पड़ा था जिनके पाँव ग़दर का गोला।

एक सन्न से गोला आया,
तेग़ कुएँ के बीच बहाई,

'छिपकर वार फिरंगी करता,
कौन करे नामर्द लड़ाई।'

खीच डोल से पानी गोला
ठडा करके घर ले आए,

मेरे बचपन मे उससे घी, शाक, दही जाता था तोला।
मै हूँ उनका पौत्र, पड़ा था जिनके पॉव ग़दर का गोला।

फिर न छुई तलवार कभी भी,
बने क़लम के सिर्फ पुजारी,
पढ़ी लड़कपन मे थी मैने
लिखी उन्हीकी ख़ालिकबारी;

खुशखत में लिख-लिख रक्खी थीं
कितनी ही नायाब किताबे;

चकित देखता था मै उनका बस्ता जब जाता था खोला।
मै हूँ उनका पौत्र, पड़ा था जिनके पॉव ग़दर का गोला।

सन-से बालों, झुर्री वाले
गालों वाली बुढ़िये आकर,
देख मुझे छुटपन में कहती
थीं, तुम हो अपने आजा पर।

मैने देखा नही उन्हें था,
केवल इतना सुन रक्खा था,

कड़े कलेजे वाले थे वे, लोग उन्हें कहते थे भोला।
मैं हूँ उनका पौत्र, पड़ा था जिनके पॉव ग़दर का गोला।

३४

बाबा के सँग दादी की भी याद जगाना समुचित होगा।

था उनका अरमान काल जब
उन्हें जगत से लेने आए,
माँस धरा उनकी थाली मे,
औ' गिलास में मदिरा पाए!

बदल गए लहजे बातों के,
मुझको पड़ता अर्थ बताना,
मतलब था, वे चाह रही थी,
बाबा के आगे मर जाना!

तब के जग-समाज में विधवा,
नहीं सुहागिन, को ये वर्जित
थे, लेकिन भगवान भाग्य में
और कर चुके थे कुछ अंकित।

बाबा के सँग दादी की भी याद जगाना समुचित होगा।

पिता-पुत्र जा रहे कहीं थे,
आँधी-पानी, पत्थर आया,

बेटे को छाती से ढककर
पुत्र-प्रेम का मूल्य चुकाया
बाबा ने अपने प्राणों से;
घर में पैसे की थी तंगी,
घर को बेच काम कर डालो,
समझाने आए बजरंगी।

दादी बोलीं, बेच आज घर
उनका काम करा तो दूँगी,
किंतु मुझे कल रोना होगा
तब किसकी ड्योढी ढूँढूँगी ?

हिंदू विधवा की क़िस्मत पर कौन नहीं जो कंपित होगा।
बाबा के सँग दादी की भी याद जगाना समुचित होगा।

नाते-रिश्तेदारों ने भी
उनका बहुत विरोध किया था,
पर मेरी दादी ने जो कुछ
सोच लिया था,सोच लिया था;

बाबा लौह-पुरुष थे, भावों
में, पर, बह जाते थे अक्सर;
दादी कोमल थी पर आँखें
दृढ रखती थीं वस्तुस्थिति पर।
एक दूसरे के पूरक थे
जीवन में थे सुखी इसीसे,

सुनी प्रशंसा केवल उनकी,
सुनी जहाँ, जब और जिसी से।

हृदय और मस्तिष्क उन्हीका
मुखरित हो मेरे छंदों में,
यदि मुझको जिंदा बन रहना
है हिंदी के तुकबंदों मे,

मेरे रक्त नसों के अंदर उनका क्या कुछ संचित होगा!
बाबा के सँग दादी की भी याद जगाना समुचित होगा।

३५

ललितपूर को नमस्कार है जहाँ पिता जन्मे थे मेरे।

मेरे तन में ललितपूर का
कोई कण डोला करता है,
और कहीं पर मेरे स्वर मे
उसका स्वर बोला करता है;

मिट्टी इतनी दीन नही है
जितनी कवि की आह बताती;
सात पीढ़ियों तक यह मिट्टी
अपना असर दिखाती जाती;

इसीलिए तो आज कि जब मै
अपने पूरेपन को वाणी
देने का कर यत्न चला हूँ,
याद मुझे आई अनजानी,

ललितपूर को नमस्कार है जहाँ पिता जन्मे थे मेरे।

सुना, जेल के दारोगा बन
मेरे बाबा वहाँ गए थे,
मेल-जोल हो गया सभी से
जल्दी, गो वे नए-नए थे,

थोड़े दिन के बाद नौकरी
जबकि हो गई उनकी पक्की,
दादी पहुँची बाँधे बगचा,
बर्तन, चर्खा, चूल्हा, चक्की।

वहीं पिता जी हुए, वहीं का
अपना मधुर लड़कपन जाना,
पर प्रयाग मे, ललितपूर में
अक्सर होता जाना-आना,

शिकरम के दिलचस्प सफर थे याद पिता जी को बहुतेरे।
ललितपूर को नमस्कार है जहाँ पिता जन्मे थे मेरे।

सुनी उन्हींसे थी मैंने यह
जुड़ी जन्म के साथ कहानी,
उसी राह में, किसी जगह पर
एक तीर्थ है भुइयाँ रानी,

पूजा करते समय वही पर
बाम अंग दादी का फरका,
मन्नत मानी सात चुनर की
जो घर में खेलेगा लड़का।
आते-जाते हठकर दादी
भुइयाँ रानी को जाती थीं,
औ' हर बार वहाँ देवी को
पीली चुनरी पहनाती थीं।

भुइयाँ रानी! —नाम सोचकर
मैं विभोर अब हो जाता हूँ,
नामकरण करने वाले की
रुचि, रस को किस भाँति सराहूँ!
मुझे कभी जाकर करने है उस कवित्वमय थल के फेरे।
ललितपूर को नमस्कार है जहाँ पिता जन्मे थे मेरे।

३६

हर खुशी मे, हर मुसीबत में मुझे, हे पूज्य, तुम हो याद आते।

घूम आधा विश्व, आधी जिंदगी को
पारकर यह सत्य जाना
श्रेष्ठ दुनिया मे नही इसके सिवा कुछ
प्यार करना, गीत गाना,

आज वाणी संग में है, दिल भरा है
औ' तुम्हारा चित्र आगे,

हर ख़ुशी में, हर मुसीबत में मुझे, हे पूज्य, तुम हो याद आते।

क्योंकि दोनों काम उसका है कि जिसके
पास केहरि का हिया हो,
साँस ने नापा न जिसको, साथ जिसका
झड़-बवंडर ने किया हो,

सिह के ही कंठ से आवाज उठती
है कि जंगल गूँजता है,

कोकिलाएँ कूकती, बुलबुल चहकते और भौंरे मिनमिनाते।
हर खुशी में, हर मुसीबत में मुझे, हे पूज्य, तुम हो याद आते।

हर्फ़ तख़्ती पर लिखे थे जबकि लाँबे,
तुम कही मन में बसे थे,
मास्टर जी कुछ न समझे भेद इसका,
देखकर कितना हँसे थे !

यत्न मेरा अब कि मेरे लफ्ज में हो
क़द तुम्हारा; तुम समझते

थे फलेगे, जो कि अपनी अक़्ल अपनी नस्ल की ताकत बढ़ाते।
हर ख़ुशी में, हर मुसीबत मे मुझे, हे पूज्य, तुम हो याद आते।

था सबल समझा कभी तुमने मुझे या
भावनाओ मे बहे थे,
याद है वे शब्द मुझको जो कि तुमने
मृत्यु-शैया पर कहे थे—

मै बड़ा सौभाग्यशाली उस पिता को
और उस माँ को समझता

हूँ कि जिसके पूत के मजबूत—पाएदार काँधे लाश उसकी है उठाते।
हर ख़ुशी में, हर मुसीबत मे मुझे, हे पूज्य, तुम हो याद आते।

हूँ उनकी औलाद जिन्होंने जीवन में थी भीति न जानी।

घटना और परिस्थितियों से
दहका करके आग-अँगारा,
इम्तहान मेरा लेने को
जब-जब दुनिया ने ललकारा,
पूज्य पिता के फ़ौलादीपन
की तब मन को याद दिलाई—
हूँ उनकी औलाद जिन्होने जीवन में थी भीति न जानी।

एक बार था मचा शहर में
हिंदू—मुसलमान का दंगा,
हुआ हमारे घर के आगे
दो तुर्कों का बध बेढंगा;
चपत हुए मारनेवाले,
लेकिन गए पिता जी पकड़े
औ' दस—पाँच पड़ोसी—शंकर,सुद्धन, मंगल, भीख, भवानी।
हूँ उनकी औलाद जिन्होने जीवन में थी भीति न जानी।

हाहाकार मचाया सबने
हाय राम, क्या होने वाला,

किसको-किसको फाँसी होगी,
किसको-किसको पानी काला,
रोना-धोना औ' चिल्लाना
काम यही था भर दिन सबका,
देख-देख कादरपन उनका हुई पिता जी को हैरानी।
हूँ उनकी औलाद जिन्होंने जीवन में थी भीति न जानी।

बोले, मेरे लाल सयाने,
बुढ़िया मेरी हरि–विश्वासी,
मै कह दूँगा तुर्क बधे है
मैने, मुझको दे दो फाँसी,
नहीं किसीका घर उजड़ेगा,
एक मुझे है मरना-जीना;
जाकर पूछ किसीसे लेना कटघर में मशहूर कहानी।
हूँ उनकी औलाद जिन्होंने जीवन में थी भीति न जानी।

अद्वितीय कितनी ही बातें
उनकी याद मुझे हैं आती,
कुछ मैंने खुद ही देखी थीं,
कुछ अम्मा जी थीं बतलाती,
सबमें हिम्मत और कड़कपन
या फिर दरिया दिली ग़ज़ब की,
और लगूँगा कहने तो फिर होगा यह क़िस्सा तूलानी।
हूँ उनकी औलाद जिन्होंने जीवन में थी भीति न जानी।

३८

जीभ को तुमने सिखाया बोलना औ'
गीत की लय कान में तुमने बसा दी।

सूर्य की आँखों तले अभिमान जिसने
भी, जहाँ, जिस दोष-गुण का, जब किया है,
यह वही साबित हुआ, जिसको कि उसने
एक माँ के दूध से पाया, पिया है,
भाग्य में जिसके लिखा हो कवि बने वह,
तो उसे जो माँ मिले, हो तुम सरीखी,
जीभ को तुमने सिखाया बोलना औ'
गीत की लय कान में तुमने बसा दी।

याद आते है लड़कपन के सबेरे,
मुँह-अँधेरे जबकि राधे—श्याम कहकर,
तुम उठी हो दे बुहारी, धो-नहाकर
ध्यान-पूजा से निबट गृह-काज-तत्पर
हो गई हो; हाथ धंधों में लगा है,
कंठ मीरा, सूर, तुलसी के भजन में,
और बिस्तर में रजाई से लिपटकर
आँख मूँदे सुन रहा हूँ मैं प्रमादी।

जीभ को तुमने सिखाया बोलना औ'
गीत की लय कान में तुमने बसा दी।

और सुंदर कांड कितने मंगलों को
था सुना मुँह से तुम्हारे, याद आता—
कौन शुभ किस रास्ते से आ निकलता
है नहीं इंसान इसको जान पाता—
उस समय चुप, मष्ट मारे बैठने का
एक ही था सामने मेरे प्रलोभन,
पाठ का जब अंत होता था मगद के
लड्डुओं की थी मिला करती प्रसादी।
जीभ को तुमने सिखाया बोलना औ'
गीत की लय कान में तुमने बसा दी।

और कितनी बार घुटनों में तुम्हारे,
जबकि घर में गीत का त्योहार होता
था, मजीरों, ढोल, ताशों की गमक में,
बैठकर लय, ताल, सुर था मैं सँजोता,
और मेरे झूमने पर जबकि तुमने
पीठ मेरी थपथपाई थी लगा था—
'सुरसती' ने मूक-मृत पाषाण छूकर
राग भरती आग जैसे हो जगा दी!
जीभ को तुमने सिखाया बोलना औ'
गीत की लय कान मे तुमने बसा दी।

३९

याद आते हो मुझे तुम, ओ, लड़कपन के सबेरों के भिखारी !
तुम भजन गाते, अँधेरे को भगाते
रास्ते से थे गुजरते,
औ' तुम्हारे एक तारे या सरंगी
के मधुर सुर थे उतरते
कान में, फिर प्राण में, फिर व्यापते थे
देह की अनगिन शिरा में;
याद आते हो मुझे तुम, ओ, लड़कपन के सबेरों के भिखारी !

औ' सरंगी-साधु से मैं पूछता था,
क्या इसे तुम हो खिलाते ?
'ई हमार करेज खाथै, मोर बचवा,'
खाँसकर वे थे बताते,
और मैं मारे हँसी के लोटता था,
सोचकर उठता सिहर अब,
तब न थी संगीत-कविता से, कला से, प्रीति से मेरी चिन्हारी।
याद आते हो मुझे तुम, ओ, लड़कपन के सबेरों के भिखारी !

बठ जाते औ' सुनाते गीत गोपी–
चंद, राजा भरथरी का,
राम का बनवास, ब्रज की रास लीला,
ब्याह शकर-शंकरी का,
                        औ' तुम्हारी धुन पकड़कर कल्पना के
                        लोक में मैं घूमता था,
सोचता था, मैं बड़ा होकर बनूँगा बस इसी पथ का पुजारी।
याद आते हो मुझे तुम, ओ, लड़कपन के सबेरों के भिखारी !

खोल झोली एक चुटकी दाल-आटा
दान में तुमने लिया था,
क्या तुम्हें मालूम जो वरदान तुमने
गान का मुझको दिया था;
                        लय तुम्हारी, स्वर तुम्हारे, शब्द मेरी
                        पंक्ति में गूँजा किए है,
और खाली हो चुकीं, सड़-गल चुकी वे झोलियाँ कब की तुम्हारी।
याद आते हो मुझे तुम, ओ, लड़कपन के सबेरों के भिखारी !

हाय, शालिग्राम, तुम भाई न थे, तुम दाहिनी थे बाँह मेरी।
था कहा तुमने कि, बीती को भुलाना;
आँख से आँसू बहाते;
वे अलग होते नहीं जो एक माँ की
कोख से हैं जन्म पाते,
हम लड़े पर वक़्त पड़ने पर हमेशा
साथ हम थे, एक हम थे;
हाय, शालिग्राम, तुम भाई न थे, तुम दाहिनी थे बाँह मेरी।

उम्र कच्ची थी, गृहस्थी और कच्ची,
था अभी तुमको न मरना,
मैं बड़ा था और तुमसे पूर्व मुझको
था जगत से कूच करना,
खेलता आया सदा था जिंदगी की
आग से मै इस भरोसे—
तुम खड़े पीछे; गए जब तो गए ले आखिरी तुम छाँह मेरी।
हाय, शालिग्राम, तुम भाई न थे, तुम दाहिनी थे बाँह मेरी।

जबकि मैंने देश-दुनिया भूल कविता-
कामिनी का मर्ज़ पाला,
तब पसीने की कमाई से तुम्हीने
था समूचा घर सँभाला;
राग-रस पकते तभी है जबकि फ़ुरसत
से उन्हें कोई पकाए;
कर मुझे बेफ़िक्र तुमने ही सरल औ' साफ़ की थी राह मेरी।
हाय, शालिग्राम, तुम भाई न थे, तुम दाहिनी थे बाँह मेरी।

चार बहनों-भाइयों के बीच केवल
एक मैं बाकी बचा हूँ,
काल का उद्देश्य कोई पूर्ण करने
को गया शायद रचा हूँ,
और क्या आता मुझे है, सिर्फ़ इसको
छोड़—तुक से तुक मिलाना;
है अभी मुखरित कहाँ हर एक सुख की साँस, दुख की आह मेरी।
हाय, शालिग्राम, तुम भाई न थे, तुम दाहिनी थे बाँह मेरी।

४१

राह कल्पना की तुमने ही सबसे पहले थी दिखलाई।

आठ बरस का था मैं, दिन थे
वर्षा के, थी रात अँधेरी,
काले, फूले, फैले मेघों
ने थी चार दिशाएँ घेरीं,
रह-रह दामिनि दमक रही थी,
कड़क रही थी, याद मुझे है,
राह कल्पना की तब तुमने सबसे पहले थी दिखलाई।

'बोलो दादी, यह गड़-गड़ का
शोर कहाँ से नीचे आता?'
'इन्द्र हुआ असवार-अश्व पर
बादल पर उसको दौड़ाता,
नालों से जो फूट कभी है
पड़ती चिन्गारी, वह बिजली,
गर्जन है, टापों के पड़ने से देते जो शब्द सुनाई।'
राह कल्पना की तुमने ही सबसे पहले थी दिखलाई।

विद्युत गति से चलनेवाला
होगा कैसा अद्‌भुत घोड़ा,

उस पर वश रख सकने वाला
होगा कैसा कर्कश कोड़ा!

हृदय-सिन्धु से मेरे उस दिन
उच्च श्रवा निकल भागा था,

तीन लोक, तीनों कालों में पैठ सहज थी उसने पाई।
राह कल्पना की तुमने ही सबसे पहले थी दिखलाई।

निज इच्छा वह आता, मुझको,
जहाँ चाहता, जब, ले जाता,
उसकी गति-विधि, मति-मंशा का
पता नही मै कुछ भी पाता,

कभी मुझे, धरती ही पर जो
चरते, उनसे ईर्ष्या होती,

और कभी वे बंदे मुझको देते है दयनीय दिखाई।
राह कल्पना की तुमने ही सबसे पहले थी दिखलाई।

स्वर्ग लोक से बोलो—कैसे
इस पर जीन-लगाम चढ़ाऊँ,
इस मुँहजोर तुरग को कैसे
जाँघों में कस बस में लाऊँ,

कलाकार वह बड़ा, कला पर
अपनी, जो हावी होता है,

अब दुनिया कहती है अपनी चालों का मै उत्तरदायी।
राह कल्पना की तुमने ही सबसे पहले थी दिखलाई।

प्यार किस दिन था तुम्हारा और मेरा,
तुम वही थी जो कि मै था,
हम अलग हो जायँगे इसकी कभी भी
थी न शंका औ' न भय था,

किंतु उस दिन से धरातल दो तुम्हारे
और मेरे हो गए थे—

जर्जरित प्रतिपल यहाँ मै, पर कही थी सर्वदा को तुम नवेली।
मैं तुम्हें पत्नी समझ पाया कहाँ था, खेल की तुम थीं सहेली!

खोजता मै उस धरातल को अँधेरे
के तलातल में समाया,
औ' वहाँ मैने कटारी-सा चमकता
एक नूतन चाँद पाया;
कुछ नियति संकेत समझा औ' उसे ले
बस कलेजे में धँसाया,
रक्त से मुझको नहाना था मगर मै
एक आभा में नहाया।

आँख जो ऊपर उठाई तो सितारे
दो रहे थे कर इशारे,
और तब से आज तक चलता रहा हूँ
एक उनके ही सहारे!

उस तिमिर की श्यामता में क्यों छिपा था तेज, मुझको यह पहेली।
मै तुम्हें पत्नी समझ पाया कहाँ था, खेल की तुम थी सहेली!

४३

श्यामा रानी थी पड़ी रोग की शैया पर,
दो सौ सोलह दिन कठिन कष्ट में थे बीते,
संघर्ष मौत से बचने और बचाने का
था छिड़ा हुआ, या हम जीते या वह जीते ।

सहसा मुझको यह लगा, हार उसने मानी,
तन डाल दिया ढीला, आँखों से अश्रु बहे,
बोली, 'मुझ पर कोई ऐसी रचना करना,
जिससे दुनिया के अंदर मेरी याद रहे ।'

मैं चौक पड़ा, ये शब्द इस तरह के थे जो
बैठते न थे उसके चरित्र के ढाँचे में,
वह बनी हुई थी और तरह की मिट्टी से,
वह ढली हुई थी और तरह के साँचे में,

जिसमे दुनिया के प्रति अनंत आकर्षण था,
जिसमें जीवन के लिए असीम पिपासा थी,
जिसमें अपनी लघुता की वह व्यापकता थी,
यश, नाम, याद की रंच नही अभिलाषा थी ।

क्या निकट मृत्यु के आ मनुष्य बदला करता,
चट मैंने उसकी आँखों में आँखें डाली,
वे झूठ नहीं पल भर पलकों में छिपा सकीं,
वे बोल उठीं सच, थीं इतनी भोली-भाली ।

जब मैं न रहूँगी तब घड़ियों का सूनापन,
खालीपन तुम्हें डरायेगा, खा जाएगा,
मेरा कहना करने में तुम लग जाओगे,
तो वह विधुरा घड़ियों का मन बहलाएगा।

मैं बहुत दिनों से ऐसा सुनता आता हूँ,
जो ताज आगरा में जमुना के तट पर है,
मुमताजमहल के तन-मन की मोहकता के
प्रति शाहजहाँ का प्रीति-प्रतीक मनोहर है ।

मुमताज आखिरी साँसों से यह बोली थी,
'मेरी समाधि पर ऐसा रौजा बनवाना,
जैसा न कही दुनिया में हो, जैसा न कभी
संभव हो पाए फिर दुनिया में बन पाना ।'

मुमताजमहल जब चली गई तब शाहजहाँ
की सूनी, खाली, काली, कातर घड़ियों को,
यह ताजमहल बहलाता था, सहलाता था,
जोड़ा करता था सुधि की टूटी लड़ियों को ।

मुमताजमहल भी नही नाम की भूखी थी,
आखिरी नज़र से शाहजहाँ की ओर देख,
वह समझ गई थी जो रहस्य संकेतों से
बतलाती थी उसके माथे पर पड़ी रेख।

वह काँप उठी, अपनी अंतिम इच्छा कहकर
वह विदा हुई औ' शाहजहाँ का ध्यान लगा,
उन अशुभ इरादों से हटकर उन सपनों में
जो अपने अस्फुट शब्दों से वह गई जगा।

यह ताज शाह का प्रेम-प्रतीक नहीं इतना
जितना मुमताजमहल के कोमल भावों का,
जो जीकर शीतल सीकर बनता तापों पर,
जो मरकर सुखकर मरहम बनता घावों का !

४४

गाता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से।

पढता हूँ अंग्रेज़ी जिसने
द्वार जगत-कविता के खोले,
रहती है मन की मन ही के
बीच बिना अवधी में बोले,
लिखता हूँ हिंदी में जिसकी
है उर्दू के साथ मिताई,
गाता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से।

और यहीं के मिट्टी-पानी
से विरचित है मेरी काया,
अरे पूर्वजो, किस तप-बल से
था तुमने वह पुण्य कमाया,
ऊँचा से ऊँचा भी अंतिम
बार यहाँ रजकण बन आता?
भारत की धरती के ऊपर चल आई यह रीति सगर से।
गाता हूँ अपनी लय-भापा सीख इलाहाबाद नगर से।

भरद्वाज मुनि जहाँ बसे थे
उसी जगह पर आते-जाते

मेरी आधी उम्र चुकी है
लिखते-पढ़ते और पढ़ाते
उनके यज्ञस्थल पर अब भी
सरस्वती सरिता लहराती,
अनुमानो उसकी गहराई मत मेरी इस अल्प गगर से।
गाता हूँ अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से।

जिस बोली मे गगा-जमुना
आपस में बोला करती है,
जाड़ा, गर्मी, बरसातों में
जिस गति से डोला करती है,
नक़ल उसीकी मैंने की है
अपने शब्द, पदों, छंदों मे
मेरी स्वर लहरी आई है गंग-जमुन की लहर अमर से।
गाता मै अपनी लय-भाषा सीख इलाहाबाद नगर से।

४५

तुम कभी नही मुड़कर पीछे देखा करते,
तुम कही नही थमते पल भर दम लेने को,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूं,
है कौन तुम्हारी झोली में ऐसा संबल ?

जीवन के पथ पर है कोई चलनेवाला
बीते दिन की कुछ सुधियाँ जिसके साथ नही,
जो फिर-फिर उठकर अंतर को मथती रहती,
थिर जो रहने देतीं क्षण भर को माथ नही ?
मिट्टी का चोला जो धरकर के आया है,
उसको मिट्टी का धर्म निभाना होगा ही,
शीतल छाया में बैठ थके-माँदे पैरों
को सुस्ता लेने देना है अपराध नही;
जो मग तै, मंज़िल का कर चुकते हैं निश्चय,
वे भी संशय से मुक्त कहाँ रह पाते है ?
तुम कभी नहीं मुड़कर पीछे देखा करते,
तुम कही नहीं थमते पल भर दम लेने को,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूं,
है कौन तुम्हारी झोली में ऐसा संबल ?

काले-काले बादल उठ आठ दिशाओं से
घेरे लेते है नभ के चौड़े आँगन को,
चपला का चाबुक ऐसा तन पर पड़ता है
वे रोक नही पाते है अपने क्रंदन को,
किस बन के पल्लव-नीड़ों में जा छिपने को
यह पवन बड़ी तेजी से भागा जाता है,

आतंक भरे ऐसे पल में शरणस्थल की
आवश्यकता होती ही है मानव मन को,
नदियों में उमड़ी बाढ़, पर्वताकार लहर
विक्षुब्ध उदधि में उठ-उठ फिर-फिर गिरती है,

तुम कभी नहीं रुकते अंबुधि के गर्जन से,
तुम कभी नहीं थमते जलधर के तर्जन पर,
तुम आगे ही बढते जाते, पंथी, पूछूँ,
है कौन तुम्हारी छाती में ऐसी हलचल ?

तुम कभी नहीं मुड़कर पीछे देखा करते,
तुमी कभी नही थमते पल भर दम लेने को,
तुम आगे ही बढते जाते, पंथी, पूछूँ,
है कौन तुम्हारी झोली में ऐसा संबल ?

तुम भाग्य सराहो अपना, ऐसा कम होता,
विथकित घड़ियों के पास पड़ी अमराई है,
मृदु मंजरियों के सौरभ से मदमस्त हवा
यह कहती है मधुऋतु की बेला आई है,

किस धुँधले, गहरे, बिसरे युग की हूक सजग
हो उठती है कोयल की पंचम तानों से,
किन आदिम, अस्फुट भावों की सोई ध्वनियाँ,
भौरो के गुन-गुन में लेती अँगड़ाई है,
मधुवन आया, गुजरा, पीछे भी छूट गया,
बन-रागिनियाँ हो मंद, मधुर कुछ और हुई,
तुम कभी नही रुकते कोकिल के कूजन से,
तुम कभी नही थमते भ्रमरों के गुंजन पर,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूँ,
है तुम्हें सुनाई देती किसकी पग-पायल ?
तुम कभी नहीं मुड़कर पीछे देखा करते,
तुम कभी नही थमते पल भर दम लेने को,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूँ,
है कौन तुम्हारी झोली में ऐसा संबल ?

आँखों में गड़नेवाले जग से घबराकर
चिंतित प्राय: अंबर को देखा करते है,
नीले नभ में क्या स्वप्न सजीले बसते हैं,
नखतों से किन गीतों के निर्झर झरते है,
जो लाख परेशानी में भी मन बहलाते,
जो सहलाते गहरी से गहरी चोटों को,
सिर नीचा रखनेवालों की कितनी चिंता,
तृण-पत्तों की पलकों के जलकण हरते हैं,

किसको फुरसत है शीश उठा देखे ऊपर,
किसको छुट्टी है शीश झुका नीचे देखे,
तुम कभी नहीं रुकते तारों के गायन से,
तुम कभी नही थमते शबनम के रोदन पर,
तुम आगे ही बढते जाते, पंथी, पूछूँ,
तुमसे मिलने को कौन कहाँ व्याकुल-विह्वल?
तुम कभी नही मुडकर पीछे देखा करते,
तुम कही नही थमते पल भर दम लेने को,
तुम आगे ही बढ़ते जाते, पंथी, पूछूँ,
है कौन तुम्हारी झोली मे ऐसा सबल ?

४६

एक गीत ऐसा मै गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गो से प्यारी !

रूपमती, रंजित, रसवंती,
गंधमयी यह भूमि हमारी,
लेकिन फिर भी स्वर्ग प्रशंसित,
स्वप्न-कल्पना की बलिहारी !
आज दूर का ढोल, निकट की
बीन बजे, दोनों झंकृत हो,
एक गीत ऐसा मै गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गो से प्यारी !

इतना छोटा हृदय कि तुमने
एक जगह पर वार दिया है,
व्यर्थ गगन पर उडुगण, भू पर
फूलों ने शृंगार किया है,
अपने प्रिय-सी छवि दिखलाई
दे मुझको हर कण, हर क्षण की,
एक प्रीति ऐसी कर पाऊँ, भूमि लगे स्वर्गो से प्यारी !
एक गीत ऐसा मै गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गो से प्यारी !

सुर सतुष्ट बहुत है इससे,
मृत्यु विजय करके बैठे हैं,
पत्थर की प्रतिमा हो जाने
के ऊपर इतना ऐंठे है!

दृग-जल वत् अपने प्राणों को
पुनः-पुनः न्योछावर करके,

एक जीत ऐसी मैं लाऊँ, भूमि लगे स्वर्गो से प्यारी!
एक गीत ऐसा मै गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गो से प्यारी!

चली सदा से जो आई है
मानव की गर्वीली थाती,
तरसा करती जिसको पाने
को देवों की वंध्या छाती,

लेती है अवतार अमरता
जिसके अदर से धरती पर,

एक पीर ऐसी अपनाऊँ, भूमि लगे स्वर्गो से प्यारी!
एक गीत ऐसा मै गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गो से प्यारी!

४७

आज न मुझसे बोलो, अपने अंतस्तल में राग लिए मैं।

ओछे आज मुझे लगते हो
ओ, जो तुम धन-धाम सँवारे,
थोथे आज मुझे लगते है
पोथे, नाम, ख़िताब तुम्हारे,

गुड्डे-गुड़िया, राजा-रानी,
खेल-खिलौने, दंड-सिहासन,

आज न मुझसे बोलो, अपने अंतस्तल में राग लिए मै।

नीति बनाकर तुम लौटे हो,
देश चलेगा पीछे-पीछे,
एक उठेगा यदि ऊपर को
एक चला जाएगा नीचे,

सबके हित की बात अकेली
कवि की वाणी कर सकती है,

अपने स्वर मे आने वाली मानवता का भाग लिए मै।
आज न मुझसे बोलो, अपने अंतस्तल में राग लिए मै।

बैंड, बिगुल, झंडे, सेना के
ऊपर तुम ऐंठे, सेनानी,
सबके अतर्पट पर लिखता
हूँ मै अपनी जीत-कहानी

गीत सुनाकर, तुमसे ऊँची
गर्दन करके क्यो न चलूँ मै,

केवल अपने हाथों के बल मन की वीणा साथ लिए मै।
आज न मुझसे बोलो, अपने अंतस्तल में राग लिए मै।

कूद पड़ा मै, मुझको जीवन
की लहरों ने था ललकारा,
हुआ सदा करता है काफ़ी
मुझे प्रकृति का एक इशारा,

आज कला, नैतिकता दोनों
अंगीकार नहीं कर सकते,

और न तज ही सकते मुझको, ऐसा सुदर पाप किए मै।
आज न मुझसे बोलो, अपने अंतस्तल में राग लिए मै।

४८

गीत मधुर-सुकुमार लिए तू;
भावों का श्रृंगार लिए तू,
शीश झुका चल,
शीश झुका चल।

घर की छत के ऊपर चढ़कर
जो चिल्लाते, शोर मचाते,
अपना पोलापन दिखलाते,
अपना बौनापन बतलाते;

घर के अनदेखे कोने में
तेरी वाणी की प्रतिध्वनि सुन

अनजानी आहें उठ पड़तीं,
अनजाने आँसू झर जाते।

गीत मधुर-सुकुमार लिए तू,
भावों का श्रृंगार लिए तू;
शीश झुका चल,
शीश झुका चल।

हल्के उठ जाते हैं ऊपर,
भारी भार लिए हैं नीचे;
जो आगे-आगे इतराते,
देख उधर से, वे है पीछे;

उनसे तेरी होड़ नहीं है,
तेरा उनका जोड़ नहीं है;

उनको दुनिया खीच रही है,
दुनिया चलती तेरे खीचे,

बहुत मिला तुझको जीवन से,
बहुत मिला साहित्य-मनन से,
कर्ज़ चुका चल,
कर्ज़ चुका चल।
गीत मधुर-सुकुमार लिए तू,
भावो का शृगार लिए तू,
शीश झुका चल,
शीश झुका चल।

४९

अनमिल तार सभी बाहर के, अंदर के कुछ तार मिला लूँ।

अंबर का संगीत किसी दिन
ओस कणों ने दुहराया था,
ओस कणों का राग किसी दिन
इंद्रधनुष ने अपनाया था;
दोनों में अलगाव किए अब
अंधड़ एक अधर में उठकर,
अनमिल तार सभी बाहर के, अंदर के कुछ तार मिला लूँ।

मंद पवन को मैंने देखा
कलिका-कलिका को हलराते,
अब पवन को देख रहा हूँ
गिन-गिन उनको तोड़ गिराते;
मधुवन के जो फूल गए झड़
अब तो उनकी शरण धरणि है;
मन के जो सूखे-मुर्झाए ऐसे ही कुछ फूल खिला लूँ।
अनमिल तार सभी बाहर के, अंदर के कुछ तार मिला लूँ।

एक साँस लय के अंतर में
गीत सृजन का भर सकती है,
एक साँस यदि उसमे दम हो
तो क्या से क्या कर सकती है!

वह साँसो की साँस बड़े तप-
साधन से वश में आती है,

कर लूँगा संतोष अगर मै अपने सपने चार जिला लूँ।
अनमिल तार सभी बाहर के, अंदर के कुछ तार मिला लूँ।

सत्य मिटा जाता है, मै हूँ
सपनों का संसार बनाए,
पर इन सपनों मे ही सच का
मै हूँ कुछ-कुछ अंश बचाए,

सत्य प्रतिष्ठित होगा जिस दिन
फिर से, इसका राज़ खुलेगा,

आज सशक जगत को कैसे मै इसका विश्वास दिला दूँ।
अनमिल तार सभी बाहर के, अंदर के कुछ तार मिला लूँ।

५०

काम शाहंशाह का है या फ़कीरों का बनाना गीत, गाना।
यह कहा किसने कि जिसके शीश पर है
ताज बस राजा वही है,
और उनको क्या कहोगे राज्य जिनके
वास्ते कुछ भी नहीं है,
वे कुबेरी संपदा को भावना की
कौड़ियों पर बेच आते,
काम शाहंशाह का है या फ़कीरों का बनाना गीत, गाना।

कंटकों का जो मुकुट मस्तक चढ़ाए
हूँ, उन्हींकी है वसीयत,
जो भिखारी का बनाए भेस घूमे,
राजसी, पर, थी तबीयत,
है उन्हींके दान से धनवान दुनिया
और वैभवमान दुनिया,
जो बने संतान उनकी काम उसका उस ख़ज़ाने को बढ़ाना।
काम शाहंशाह का है या फ़कीरों का बनाना गीत, गाना।

प्रेरणाएँ किन सुरा के निर्झरों से
जाम भर-भर ला रही है,
और कविता-सुंदरी अविराम पीती,
मस्त होती जा रही है;

कसम ली थी, मै न प्याले को छुऊँगा
होठ से, लेकिन, अधर को ?......

मैं समझ सकता भली विधि, स्वर्ग का सौभाग्य पर मेरे सिहाना।
काम शाहंशाह का है या फ़क़ीरों का बनाना गीत, गाना।

यामिनी है, कामिनी है और सिर में
देवताओं का नशा है,
बोलता जो प्र'ध्वनित आकाश करता
और दुहराती रसा है,

ढूँढने जाता नही हूँ मैं ज़माने
को कभी इस तख़्त से हट,

सौ ग़रज़ उसकी पड़ी हो तो मुझे ही खोजने आए ज़माना।
काम शाहंशाह का है या फ़क़ीरों का बनाना गीत, गाना।
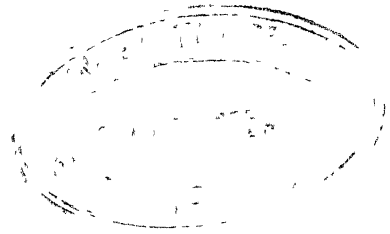
५१

वन कोकिल का कंठ मुझे दो, कंधों को पर्वत के पर दो।
मुझे चाहिए वन जीवन का
जिसमें यौवन हो अमराई,
साँस नई जिसमें वासंती
स्वस्थ सँदेसा हो ले आई,
नई भूख से, नई हूक से,
नई कूक से जो अस्थिर हो,
वन कोकिल का कंठ मुझे दो, कंधों को पर्वत के पर दो।

है कोई भौगोलिक, जिसने
जीवन की सीमा बतलाई,
जो कि सका है आँक जवानी
की ऊँचाई औ' गहराई
नव पल्लव, मृदु मंजरियों में
फुदक-फुदक पिक थक जाता है,
चीर मुझे विचरण करना है चौमापी धरती-अंबर को।
वन कोकिल का कंठ मुझे दो, कंधों को पर्वत के पर दो।

कोयल ने तो एक तान में
सार प्रकृति का छान लिया है,
किंतु नहीं मानव-दुनिया को
दान हुआ ऐसा रसिया है;
इसपर कहते ही, लिखते ही
कही-लिखी हर बात पुरानी;
जितनी बार खुले मुख मेरा, भाव नए, नव पद, लय, स्वर दो।
वन कोकिल का कंठ मुझे दो, कंधों को पर्वत के पर दो।

हर नूतन गति-ध्वनि से डरने
वाले बुजदिल पास कहीं है,
कहते, 'ज्ञात अचल-पंखों का
क्या तुमको इतिहास नही है ?'
नही ग़लतफहमी है मुझको
अपने बाजू के बारे में,
लक्ष्य शक्र-शर का बनना भी, कुछ मानी रखता, नामर्दो !
वन कोकिल का कंठ मुझे दो, कधों को पर्वत के पर दो।

५२

अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे, आज तू ही बोल मेरे भी गले से ।
पाप हो या पुण्य हो, मैने किया है
आज तक कुछ भी नही आधे हृदय से,
औ' न आधी हार से मानी पराजय
औ' न की तसकीन ही आधी विजय से;
आज मै सम्पूर्ण अपने को उठाकर
अवतरित ध्वनि-शब्द में करने चला हूँ,
अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे, आज तू ही बोल मेरे भी गले से ।

और है क्या खास मुझमें जो कि अपने
आपको साकार करना चाहता हूँ,
खास यह है, सब तरह की खासियत से
आज मै इन्कार करना चाहता हूँ,
हूँ न सोना, हूँ न चाँदी, हूँ न मूँगा,
हूँ न माणिक, हूँ न मोती, हूँ न हीरा,
किंतु मैं आह्वान करने जा रहा हूँ देवता का एक मिट्टी के डले से ।
अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे, आज तू ही बोल मेरे भी गले से ।

श्रौर मेरे देवता भी वे नही है
जो कि ऊँचे स्वर्ग में है वास करते,
श्रौर जो श्रपनी महत्ता छोड़, सत्ता
में किसीकी भी नहीं विश्वास करते;
देवता मेरे वही है जो कि जीवन
में पड़े सघर्ष करते, गीत गाते,
मुसकराते श्रौर जो छाती बढ़ाते एक होने के लिए हर दिलजले से।
श्रंग से मेरे लगा तू श्रंग ऐसे, श्राज तू ही बोल मेरे भी गले से।

छप चुकीं मेरी किताबे पूरबी श्रौ'
पच्छिमी—दोनों तरह के श्रक्षरों मे,
श्रौ' सुने भी जा चुके है भाव मेरे
देश श्रौ' परदेश—दोनों के स्वरों में,
पर खुशी से नाचने को पॉव मेरे
उस समय तक है नही तैयार जब तक,
गीत श्रपना मै नहीं सुनता किसी गंगोजमुन के तीर फिरते बावले से।
श्रंग से मेरे लगा तू श्रंग ऐसे श्राज तू ही बोल मेरे भी गले से।

५३

मै प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ।

तुम उठे ऊँचे यहाँ तक स्वर्ग को ले
गोद मे तुमने खेलाया,
किंतु क्या यह सच नहीं, तुमने धरणि की
भावनाओं को भुलाया?
और वाणी को गए सौगंध देकर
एक हरि का यश बखाने,
सिर धुने, पछताय, अपना भाग्य कोसे
दूसरा यदि नाम जाने;

बोलने को आज व्याकुल हो रही है
भूमि की सोई हुई तह,
यदि गिरा गिरती नही है आज नीचे
व्योम में खो जायगी वह,

निम्न कुछ ऐसा नहीं जिसको छुए वह
औ' न ऊपर को उठाए,

मै प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ।

स्वर्ग सब आनन्द-गुरा का धाम, उसका
कुछ नहीं है ज्ञान मुझको,
किंतु जो संघर्ष से लिपटी धरणि
उसपर बड़ा अभिमान मुझको;
धन्य तुम हो जो तुम्हें भगवान अपने
साथ में बाँधे हुए थे,
किंतु सोते-जागते कब छोड़ता है
छोहमय इन्सान मुझको ?
और जो उसके हृदय में हलचलें है,
कौन उनको जानता है ?
जो नही इंसान को पहचानता,
भगवान को पहचानता है ?

मानवों का दुःख, सुख, बल, भीति जाने,
प्रीति जाने, मुँह न खोले;

मैं किसी युग में किए अपराध का अब दण्ड भरना चाहता हूँ ।
मै प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ ।

व्योम क्या देखा कि तुमने भूमि पर से
आँख ही अपनी हटा ली,
मृत्तिका के पुत्र की, पर, चाहिए
होनी नही ऐसी प्रणाली,
एक फ़ौआरा धरा को छोड़ नभ छू
फिर धरा को लौट आता,

वह कभी आकाश के ऊपर नही
आवास अपना है बनाता,
जो न ऊपर चढ़ सके जलधार ऐसी
काम की मेरे नही है,
किंतु ऊपर खो गई जो सर्वदा को,
वंचिता उससे मही है,
ऊर्ध्व करता भूमि की आशा, अधोमुख
व्योम का आशीष करता,
मै अवनि-अंबर मिलाता आज चढ-चढकर उतरना चाहता हूँ।
मै प्रकृति-प्राकृत जनों का मान औ' गुनगान करना चाहता हूँ।

५४

गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक्त बहुतेरा पड़ा है।
सख़्त पंजा, नस-कसी चौड़ी कलाई
और बल्लेदार बाहे,
और आँखे लाल चिन्गारी सरीखी,
चुस्त औ' सीखी निगाहें,

हाथ में घन और दो लोहे निहाई
पर धरे तो, देखता क्या;

गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है।

भीग उठता है, पसीने से नहाता
एक से जो जूझता है,
जोम मे तुझको जवानी के न जाने
खब्त क्या-क्या सूझता है,

या किसी नभ देवता ने ध्येय से कुछ
फेर दी यों बुद्धि तेरी,

कुछ बड़ा तुझको बनाना है कि तेरा इम्तहाँ होता कड़ा है।
गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है।

एक गज़ छाती मगर सौ गज बराबर
हौसला उसमें, सही है;
कान करनी चाहिए जो कुछ तजुर्बे–
कार लोगों ने कही है;
स्वप्न से लड़ स्वप्न की ही शक्ल में है
लौह के टुकड़े बदलते,
लौह-सा वह ठोस बनकर है निकलता जो कि लोहे से लड़ा है।
गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है।

घन-हथौड़े और तौले हाथ की दे
चोट अब तलवार गढ़ तू,
और है किस चीज की तुझसे भविष्यत
माँग करता, आज पढ़ तू,
औ' अमित संतान को अपनी थमा जा
धारवाली यह धरोहर,
वह अजित संसार मे है शब्द का खर खड्ग लेकर जो खड़ा है।
गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है।

५५

राागिनी, मत छेड़ मुझको आज, मै ससार से छेड़ा हुआ हूँ।
काश यह होता कि तेरा साथ मिलता
और दिल को चाह मिलती,
और चलने को, नही परवाह, चाहे
जिस तरह की राह मिलती,

किंतु दुश्मन लग गया है संग, उससे
भी मुझे पड़ता उलझना,

रागिनी, मत छेड़ मुझको आज, मैं संसार से छेड़ा हुआ हूँ।

आज भी इतिहास हमको उस जमाने
की कथाएँ हैं बताते,
जबकि बीसों ओर अपनी शक्तियों को
लोग चलते थे लुटाते

कौन-सा ऐसा किया था पाप जो इस
कापुरुष युग में हुआ मै,

घेरता संसार को, पर आज मैं संसार से घेरा हुआ हूँ।
रागिनी, मत छेड़ मुझको आज, मै संसार से छेड़ा हुआ हूँ।

चाहता था मै उन्ही नर-नाहरों की
भाँति जीवन को बिताना,
प्रीति करना, गीत गाना, मस्त रहना,
शत्रु को नीचा दिखाना,

उस वज़े की जिंदगी का भेद कोई
खो चुका, वरना वही मै

विश्व को चिंतित बनाता, विश्व-चिता का कि जो डेरा हुआ हूँ।
रागिनी, मत छेड़ मुझको आज, मै ससार से छेड़ा हुआ हूँ।

किंतु यदि संसार मुझको छेड़ता है,
घेरता, सिर-दर्द बनता,
तो बिना संदेह मेरा काम पहला
है, अगर मैं मर्द बनता,

सामना उसका करूँ मैं और घुटनो
के तले उसको दबाऊँ

सब जगह असमर्थ हूँ मै, इस वजह से तो नहीं तेरा हुआ हूँ,
रागिनी, मत छेड़ मुझको आज, मै संसार से छेड़ा हुआ हूँ।

५६

पीठ पर धर बोझ अपनी राह नापूँ,
या किसी कलि-कुज में रम गीत गाऊँ ?
जब मुझे इन्सान का चोला मिला है,
भार को स्वीकार करना शान मेरी,
रीढ़ मेरी आज भी सीधी तनी है,
सख्त पिडली औ' कसी है रान मेरी,
किंतु दिल कोमल मिला है, क्या करूँ मै,
देख छाया कशमकश मे पड गया हूँ, सोचता हूँ,
पीठ पर धर बोझ अपनी राह नापूँ,
या किसी कलि-कुज में रम गीत गाऊँ ?

कौन-सी ज्वाला हृदय मे जल रही है
जो हरी दूर्बा-दरी मन मोहती है,
किस उपेक्षा को भुलाने के लिए हर
फूल-कलिका बाट मेरा जोहती है,
किसलयों पर सोहती है किसलिए बूदें
कि अपने आँसुओं को देखकर मै मुसकराऊँ,
क्या लताएँ इसलिए ही झुक गई है,
हाथ इनका थामकर मै बैठ जाऊँ ?

पीठ पर धर बोझ अपनी राह नापूँ,
या किसी कलि-कुज में रम गीत गाऊँ?

किंतु कैसे भूल जाऊँ सामने यह
भार बन साकार देता है चुनौती,
जिस तरह का और जिस तादाद में है,
मै समझता हूँ इसे अपनी बपौती।
फ़र्ज मेरा, ले इसे चलना, जहाँ दम
टूट जाए, छोड़ना मज़बूत कंधों, पजरो पर;
जो मुझे पुरुषत्व पुरखों से मिला है,
सौ मुझे धिक्कार, जो उसको लजाऊँ।
पीठ पर धर बोझ अपनी राह नापूँ,
या किसी कलि-कुंज मे रम गीत गाऊँ?

वे मुझे बीमार लगते है निकुंजों
में पड़े जो राग अपना मिनमिनाते,
गीत गाने के लिए जो जी रहे है—
काश जीने के लिए वे गीत गाते—
और वे पशु, जो कि परबस मौन रहकर
बोझ ढोते; नित्य मेरे कंठ में स्वर, भार सिर पर
हो कि जिसमें गीत से मैं भार-हल्का,
भार से संगीत को भारी बनाऊँ।
पीठ पर धर बोझ अपनी राह नापूँ,
या किसी कलि-कुज में रम गीत गाऊँ?

५७

बहुत दिए है, किस-किस पर तू वारेगा पर, हे परवाने !

नीलम-नील गगन के ऊपर
जितने झलमल करते तारे,
मरकत-हरित धरणि के ऊपर
जितने जाते फूल सँवारे,
उतने दीप जला करते है
मन की इस मोहक नगरी में,
बहुत दिए है, किस-किसपर तू वारेगा पर, हे परवाने !

एक-एक दीपक के तन में
जाग रही है इतनी ज्वाला,
जलकर क्षार-क्षार हो जाए
लाख-लाख शलभों की माला,
और अनेक अधर-बाती से
बतियाने का तू अरमानी,
कहाँ चला आया, दीवाने, बिन अपना कस-बल पहचाने।
बहुत दिए हैं, किस-किसपर तू वारेगा पर, हे परवाने !

दीवों के इस जगमग मेले
के अंदर यदि तू तब आता,
जब था तेरे पर-प्राणों को
नवयौवन का ज्वर बलकाता,

शर-सा तू उस लौ पर जाता
जो तुझको पहले दिख जाती,

छूट फुलझड़ी-सा तू जाता विस्मृति के क्षण मे अनजाने।
बहुत दिए हैं, किस-किसपर तू वारेगा पर, हे परवाने!

ज्योति शिखाओं पर अब सारी
साथ नजर जाती है तेरी,
सबका अपना राग अनेरा,
सबकी अपनी आग अनेरी,

और अनेरे सबके ऊपर
पंख बिसर्जन करनेवाले,

सबके दाह-दहे अंतस की बात कहे, गा तू वह गाने।
बहुत दिए है, किस-किस पर तू वारेगा पर, हे परवाने!

५८

धार पैनी देख उसपर फेरने को हाथ मैं बेजार होता।

सब यहाँ कुछ बाहरी, कुछ भीतरी, कुछ
आसमानी, कुछ ज़मीनी,
धार कुछ जाने न जाने, जानती है
वह नही ढुलमुल-यक़ीनी,
लाख की भी भीड़ में सबसे अलग हो
जो खड़ी हो, चीज है वह,
धार पैनी देख उसपर फेरने को हाथ मै बेजार होता।

मै अपरिचित हूँ नही उन कायरों से
जोकि उससे भागते हैं,
वीर अपने रक्त का कर अर्घ्य अर्पित
दान अपना माँगते है,
रूप की देवी निखरती है उसीसे
स्नान करके, कापुरुष का
भीरु, दुर्बल अश्रु दुनिया में किसीको भी नहीं स्वीकार होता।
धार पैनी देख उसपर फेरने को हाथ मै बेजार होता।

धार पर चलना कठिन है पर कठिनतर
धार को पहचानना है,
आँख जो उसको न चूके, माँगती वह
एक युग की साधना है,
वह चपल ग़ायब कभी तलवार से भी,
ओस में भी लपलपाती,
मैं सजग रहता हमेशा तो न मेरा और ही उद्गार होता ?
धार पैनी देख उसपर फेरने को हाथ मै बेजार होता।

जो यहाँ आया कभी न कभी सभी को
मौत है पामाल करती,
फ़ूल से ले वज्र तक वह हर तरह का
अस्त्र इस्तेमाल करती,
काटने तन-तंतु मेरा जब झपटती—
कौन है जो मन छुए वह—
चाहता मै हाथ उसके तेज कोई शब्द का हथियार होता।
धार पैनी देख उसपर फेरने को हाथ मैं बेजार होता।

फ़लो का उपयोग यही है
चुन-चुन हार बनाओ,
लेकिन बीच पड़े तो उनको
तोड़ो, दूर हटाओ,

हाथों की छाया भी तुमने
भूल न इनपर डाली,
पर ये डालो पर खिलते ही मुरझाए।
तुम भोगो, तुम जो भाव-भरा मन लाए।

प्राणों से प्रिय प्राणहीन की
सेज चिता ही होती,
नही पलक पर फिर चढ पाता
ढलक पड़ा जो मोती,

बहा राख को भी धारा में
आँख फेर जग लेता,
मृत सपने, पर, तुम छाती से चिपकाए।
तुम भोगो, तुम जो भाव-भरा मन लाए।

६०

तुमने माँगा हृदय प्यार कर सकने वाला,
तुम्हे शिकायत करने का अधिकार नही है।

तुम्हें कल्पना मिली स्वर्ग का सपना देखो,
अर्थ नही है इसका धरती को अपमानो,
देवों का है ज्ञात बड़प्पन, इसका मतलब
कभी नही है इसानो को छोटा जानो,

प्यार पूर्णता माँगा करता है, यह सच है;
यह भी सच है, प्यार पूर्णता दे सकता है,
तुमने माँगा हृदय प्यार कर सकने वाला,
तुम्हें शिकायत करने का अधिकार नही है।

यह किसको मालूम कि किसने किस वेला में
इस पृथ्वी को ही कहकर बैकुठ दुलारा,
किस भावाकुलता मे, कैसी आतुरता से
इस मिट्टी के पुतले को भगवान पुकारा!

और प्रतिध्वनि उसकी अब तक होती आती;
याद नही क्या हो आई कुछ बीती घड़ियाँ ?

कौन अभागा है जिसकी सुधियों में संचित
कुछ ऐसे पागलपन का उद्गार नही है।
तुमने माँगा हृदय प्यार कर सकने वाला,
तुम्हें शिकायत करने का अधिकार नहीं है।

जो दुनिया को नापा करते है रूले से,
करते रोज हिसाब कहाँ से, कितना लेना;
जो मन के स्वर्गो से, यह अनुभव करते है,
इस जगती को अभी बहुत कुछ देना-देना,
वे त्रुटियों पर क्रोध करे तो कर सकते हैं,
तुम तो उनपर अपने अश्रु बहा सकते हो,
यह नैसर्गिक असन्तोष तप से मिलता है,
सड़कों पर बँटनेवाला उपहार नही है,
तुमने माँगा हृदय प्यार कर सकने वाला;
तुम्हें शिकायत करने का अधिकार नहीं है।

६१

बावली-सी घूमती थी वह, उसे मैं देखते ही हो गया आसक्त !
काकुले छिटकी हुई थी भाल पर औ'
गाल पर नागिन सरीखी,
किंतु शासन में उन्हें रक्खे हुए थी
चमचमाती आँख तीखी,
और जिस ससार मे हर शख़्स अपने
पाँव को आगे वढ़ाता,
वाद को, पहले इरादे औ' निगाहें
लक्ष्य के ऊपर लगाता,
वह ठहरती और फिरती थी किन्ही
अज्ञात हाथों की चलाई !
बावली-सी घूमती थी वह, उसे मै देखते ही हो गया आसक्त !

इस गली से, उस थली से, घूर से इस
ढूह से उस, क्यों न जाने
कंकड़ों को जा-बजा वह चुन रही थी
हों कि जैसे वे ख़ज़ाने,
था जिन्हें फेंका जगत ने जानकर
वेकार कूड़े की जगह पर,

किंतु जिनकी क़ीमतें वह जानती थी
औ' सँजोती थी परखकर;
आ गई बाजार में वह और चारों
ओर उसके भीड़ छाई
दर्शकों की, कम नबी के हों भले, पर अजनबीपन के बहुत-से भक्त।
बावली-सी घूमती थी वह, उसे मै देखते ही हो गया आसक्त !

खोलकर झोली निकाला एक उसने
लाल पानी का कटोरा,
और संचित कंकड़ों में से उठाकर
एक उसके बीच बोरा,
और जब उसने निकाला तब हथेली
पर उजाला हो गया था,
उस कलुष अपरूप कंकड़ की जगह पर
एक माणिक ही नया था,
सब चकित-चुप थे कि मैने प्रश्न पूछा,
'हो क्षमा मेरी ढिठाई,
क्या बताओगी कि माणिक में समाई
कौन से द्रव की ललाई ?'
कान में उसने बताया, 'इस कटोरे में भरा है सिर्फ़ कवि का रक्त !'
बावली-सी घूमती थी वह, उसे मै देखते ही होगया आसक्त !

•

६२

याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा।

देश-काल के अन्तराल को
काट आज सहसा तुम आई,
खड़ी हो गई प्रश्न चिन्ह-सी
कुछ भरमाई, कुछ शरमाई।

'पहचाना?' तुम पूछ रही हो,
मै कह सकता हूँ इतना ही—

याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा।

क्रूर समय के आघातों के
पीछे जाना चाह रहा हूँ,
दूर यहाँ से, अब से जाकर
पहुँच गया मै, आह, कहाँ हूँ!

मेरे यौवन की आँखों ने
तुम्हें किसी दिन क्या बाँधा था?

हाथों ने कुछ बात कही थी हाथ कही क्या थाम तुम्हारा?
याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा।

या तुमने अपने नयनों की
मदिरा में था मुझे डुबोया,
समझा था तुम खोई-खोई,
जब मै था खुद खोया-खोया !

अधकचरे जीवन में मेरे
ऐसे धोखे बहुत हुए है—

पिला रहा हूँ तुमको, समझा, जब पीता था जाम तुम्हारा।
याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा।

उमड़ी नद्दी की लहरों का
नाम कहाँ होता है, भोली ?
अंधड़ के झड़-झकझोरों का
धाम कहाँ होता है, भोली ?

मेरी हिल्लोलें, कल्लोलें
अब दुनिया के बल-बोलों में,

मेरी सुध-बुध के अधसोए खँडहर से क्या काम तुम्हारा।
याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा।

•

६३

सग तुम्हारे गाऊँगा मैं कब उठकर, आनंद विहंगिनि !

कुछ अँधियारे, कुछ उजियारे
सुनता हूँ जब तान तुम्हारी,
आ जाता है ध्यान कि मुझको
करनी है दिन की तैयारी,

औ' जग-धधों में पड़ना है
साथ सोचता भी जाता हूँ,

संग तुम्हारे गाऊँगा मैं कब उठकर, आनद विहगिनि !

ख़ून-पसीने से दुनिया का
क़र्ज़ चुकाकर जब आता हूँ,
तब रजनी के सूनेपन में
कुछ अपनेपन को पाता हूँ,

और गूँजती हैं कानों में
तब फिर प्रातः की प्रतिध्वनियाँ

औ' ध्वनियो से उत्तर देकर गाता हूँ निर्द्वंद, विहंगिनि !
सग तुम्हारे गाऊँगा मै कब उठकर, आनंद विहंगिनि !

दिन को नौकर हूँ मै लेकिन
रातों को राजा बन जाता,
सपना, सत्य, कल्पना, अनुभव
का अद्भुत दरबार लगाता;

कहाँ-कहाँ से, किन-किन शाहों
के मुझको सदेशे आते,

जाते है फ़रमान जगत मे बनकर मेरे छंद, विहगिनि !
संग तुम्हारे गाऊँगा मै कब उठकर, आनद विहगिनि !

नीड़ों की नीरव नीदों मे
तुम क्या मेरी धुन पहचानो,
जिस दुख, सुख को मै भजता हूँ
तुम क्या उसको जानो, मानो,

डाह बहुत है तुमसे मुझको
मुक्त परो की, मुक्त स्वरो की,

गो न गए दे मुझको कुछ कम जीवन के प्रतिबंध, विहगिनि !
संग तुम्हारे गाऊँगा मै कब उठकर, आनद विहगिनि !

•

६४

राज उन्हे करने को दो तुम राज-सिहासन,
प्यार मुझे करने को तिनको का घर भर दो।

सिर जो भीतर से छूँछा है उसके ऊपर
चमक-दमक-मय हीरा, मोती, माणिक लादो,
भरा हुआ है भावों से जिसका अतस्तल
कहाँ उसे उद्गारे, उसको थल दिखलादो,

बढता है अधिकार सदा आतंक जमाकर,
स्नेह प्रतीक्षा में अपलक पथ जोहा करता।

राज उन्हें करने को दो तुम राज-सिंहासन,
प्यार मुझे करने को तिनको का घर भर दो।

जो औरों के ऊपर शासन करते उनको
खुद औरों के शासन में रहना पड़ता है,
मेरा मन स्वच्छंद सुनाता, गाता उसको,
साँझ-सकारे बैठा जो कुछ वह गढता है;

छाँप-मुहर उनके फ़रमानों को बल देते,
मेरे अरमानो में बल मेरी साँसों का,

जो न रुकें दीवारों, गिरि-प्राचीरों, सागर
के तीरों से, आज मुझे तुम ऐसे स्वर दो।
राज उन्हें करने को दो तुम राज-सिंहासन,
प्यार मुझे करने को तिनकों का घर भर दो।

महल-दुमहलों के दरवाजों-मेहराबों में
ध्वनित विकारों का भी कोई लेखा-जोखा,
जब-जब उनके नीचे से गुजरा हूँ, मेरा
हृदय पुकार उठा, सब जड़, सब मुर्दा, धोखा!
उन्हें मुबारक ठस-मज़बूत किला हो, मैंने
नीड़ बनाया कोमल द्रुम की धुर फुनगी पर;
खर, पर, पत्ता हर तूफ़ान उड़ा ले जाए,
किंतु धड़कता उर में तुम अनुराग अमर दो।
राज उन्हें करने को दो तुम राज-सिंहासन,
प्यार मुझे करने को तिनकों का घर भर दो।

•

६५

कुछ साहस दो तो बात कहूँ मै मन की।
देख तुम्हे कितने भावों की
बाढ़ हृदय में आती,
औ' कितनी साधों की भँवरे
नयनो में अकुलाती,
मैं वाचाल, तुम्हारे सम्मुख
मूक, मगर, हो जाता,
रसना हो जाती है जैसे पाहन की।
कुछ साहस दो तो बात कहूँ मै मन की।

कभी नही, मन कहता, तुमने
की होगी प्रत्याशा,
सुनने की मुझसे जो तुमसे
बोलूँगा मै भाषा,
फिर न रहेगा चित्र बनाया
जैसा तुमने मेरा,
कंपित करती कलपना मुझे उस क्षण की।
कुछ साहस दो तो बात कहूँ मैं मन की।

नेत्रों में बिबित न हुआ क्या
होगा अंतर मेरा ?
देखा होगा तुमने उसमें
किन चाहों का डेरा ?

भेद ढका जो समझ रहा हूँ
खुल न चुका क्या होगा ?

कवि कहते, आँख नही मोहताज बचन की।
कुछ साहस दो तो बात कहूँ मै मन की।

मानव चाहे सब दुनिया से
अपना रूप छिपाए,
कहीं चाहता नग्नतना औ'
नग्नमना रह पाए,

मै जैसा हूँ, और न मुझको
देखें, तुम तो देखो,
वर्ना, कोई कुछ भी समझे,
एक बड़ी अपने को

मानूँगा मैं धोखेबाजी जीवन की।
कुछ साहस दो तो बात कहूँ मै मन की।

•

६६

बनकर केंद्र खडी तुम हो तो
मै जीवन की परिधि बनाऊँ।

किसके चारों ओर न खीचे
मैने अपने मन के घेरे,
मेरे उर की दुर्बलता के
जग में आकर्षण बहुतेरे,
इतना थिर न रहा कोई भी
परिक्रमा पूरी हो जाती,
बनकर केंद्र खड़ी तुम हो तो
मैं जीवन की परिधि बनाऊँ।

ख़ूब मुझे मालूम कि जग में
सीधी राहे भी बहुतेरी,
चलनेवालों को मंजिल—
मकसूद पहुँचने में क्या देरी,
लक्ष्य उन्होंने देख लिया क्या,
पथ के फूल हुए अनदेखे,
और यहाँ पर टेक रही है
काँटों से भी नेह लगाऊँ।

बनकर केंद्र खड़ी तुम हो तो
मै जीवन की परिधि बनाऊँ।

मधुवन की डाली पर कितनी
फूल और काँटो की दूरी,
पर मै इनसे समझ रहा जो
उनके अंदर दुनिया पूरी,
छोटे घेरों के अदर मन
मेरा घबराता, घुटता है,
सुदर है हर चीज यहाँ पर
किसको छोड़ूँ, क्या अपनाऊँ।
बनकर केद्र खड़ी तुम हो तो
मै जीवन की परिधि बनाऊँ।

तुम स्वीकार हुई क्या, मुझको
सब जीवन स्वीकार हुआ है,
इस पथ पर जो कुछ भी मिलता
सबसे मुझको प्यार हुआ है;
स्वर्ग-नरक, साधना-वासना,
सुख-दुख, आशा और निराशा
आलिगन में बद्ध खड़े है;
पाप करूँगा जो अलगाऊँ।
बनकर केद्र खड़ी तुम हो तो
मै जीवन की परिधि बनाऊँ।

६७

मेरे मन-प्राणों को मथने को तुमको विधि ने सिरजा है।
युगल तुम्हारी सघन भँवों मे
मेरा दिल पथ भूल गया है,
उदित हुआ आयत नयनों मे
जैसे कोई क्षितिज नया है,
जन्म अवधि बढता जाऊँगा
तो भी छू न इसे पाऊँगा,
रुक न सकूँगा, लौट न पाऊँगा, फिर भी, यह और मजा है।
मेरे मन-प्राणो को मथने को तुमको विधि ने सिरजा है।

मेरी मृदुता इस दुनिया मे
बहुत गई रगड़ी-मसली है,
किंतु कठोर नही हो पाई
है, तो लगता है, असली है,
नही मुझे मालूम बना था
मै कैसे इसका अधिकारी,
या मैने कुछ पाप किया था जिसकी, कवि की आँख, सजा है।
मेरे मन-प्राणों को मथने को तुमको विधि ने सिरजा है।

ओट गया हो जो पर्वत की
कल्पित उसकी मूर्ति करेगी,
काया जिसकी पास न आई
उसकी छाया को पकड़ेगी।

भावों के सौ डगर-नगर-
खँडहर से होगी भागा-दौड़ी,

और नतीजा इसका जो कुछ होना है वह राम-रजा है।
मेरे मन-प्राणों को मथने को तुमको विधि ने सिरजा है।

ओ, सुखमा की आकृतियो, जो
आकुल प्राण किया करती हो,
वह अपराध किया करती हो,
या एहसान किया करती हो,

तुम क्या जानो, कितना भारी !
कितने मन का, कितनी सुधि से,

कितनी बार, करेगा मथन, मैंने जो यह गीत रचा है।
मेरे मन-प्राणों को मथने को तुमको विधि ने सिरजा है।

•

६८

इस रुपहरी चाँदनी में सो नहीं सकते पखेरू और हम भी।
पूर्णिमा का चाँद अंबर पर चढ़ा है,
तारकावलि खो गई है,
चाँदनी में वह सफेदी है कि जैसे
धूप ठंडी हो गई है;
नेत्र-निद्रा के मिलन की बीथियों में
चाहिए कुछ-कुछ अँधेरा;
इस रुपहरी चाँदनी में सो नहीं सकते पखेरू और हम भी।

नीड़ अपने छोड़ बैठे डाल पर कुछ
और मँडलाते हुए कुछ,
पंख फड़काते हुए कुछ, चहचहाते,
बोल दुहराते हुए कुछ,
'चाँदनी फैली गगन में, चाह मन में',
गीत किसका है ? सुनाओ !
मौन इस मधुयामिनी में हो नहीं सकते पखेरू और हम भी।
इस रुपहरी चाँदनी में सो नहीं सकते पखेरू और हम भी।

इस तरह की रात अंबर के अजिर में
रोज़ तो आती नहीं है,
चाँद के ऊपर जवानी इस तरह की
रोज़ तो छाती नही है,

हम कभी होंगे अलग, औ' साथ होकर
भी कभी, होगी तबीयत,

यह विरल अवसर विसुधि में खो नहीं सकते पखेरू और हम भी।
इस रुपहरी चाँदनी में सो नही सकते पखेरू और हम भी।

ये बिचारे तो समझते है कि जैसे
यह सबेरा हो गया है,
प्रकृति की नियमावली में क्या अचानक
हेर-फेरा हो गया है;

और जो हम सब समझते है कहाँ इस
ज्योति का जादू समझते,

मुक्त जिसके बंधनों से हो नही सकते पखेरू और हम भी।
इस रुपहरी चाँदनी में सो नही सकते पखेरू और हम भी।

•

६९

न तुम सो रही हो, न मै सो रहा हूँ,
मगर यामिनी बीच मे ढल रही है।
दिखाई पड़े पूर्व में जो सितारे,
वही आ गए ठीक ऊपर हमारे,
क्षितिज पच्छिमी है बुलाता उन्हें अब,
न रोके रुकेंगे हमारे-तुम्हारे।
न तुम सो रही हो, न मै सो रहा हूँ,
मगर यामिनी बीच में ढल रही है।

उधर तुम, इधर मैं, खड़ी बीच दुनिया,
हरे राम ! कितनी कड़ी बीच दुनिया,
किए पार मैने सहज ही मरुस्थल,
सहज ही दिए चीर मैदान-जंगल,
मगर माप मे चार बीते बमुश्किल,
यही एक मंजिल मुझे खल रही है।
न तुम सो रही हो, न मैं सो रहा हूँ,
मगर यामिनी बीच में ढल रही है।

नहीं आँख की राह रोकी किसीने,
तुम्हें देखते रात आधी गई है,
ध्वनित कंठ में रागिनी अब नई है,
नही प्यार की आह रोकी किसीने,
बढ़े दीप कबके, बुझे चाँद-तारे,
मगर आग मेरी अभी जल रही है।
न तुम सो रही हो, न मै सो रहा हूँ,
मगर यामिनी बीच में ढल रही है।

मनाकर बहुत एक लट मैं तुम्हारी
लपेटे हुए पोर पर तर्जनी के
पड़ा हूँ, बहुत खुश, कि इन भाँवरों में
मिले फ़ारमूले मुझे जिदगी के,
भँवर में पड़ा-सा हृदय घूमता है,
बदन पर लहर पर लहर चल रही है।
न तुम सो रही हो, न मैं सो रहा हूँ,
मगर यामिनी बीच में ढल रही है।

•

७०

आज चंचला की बाहों में उलझा दी हैं बाहें मैने।
डाल प्रलोभन में अपना मन
सहल फिसल नीचे को जाना,
कुछ हिम्मत का काम समझते
पाँव पतन की ओर बढ़ाना;
झुके वहीं जिस थल झुकने में
ऊपर को उठना पड़ता है;
आज चंचला की बाहों में उलझा दी है बाहें मैंने।

काँटों से जो डरनेवाले
मत कलियों से नेह लगाएँ,
घाव नहीं है जिन हाथों में,
उनमें किस दिन फूल सुहाए,
नंगी तलवारों की छाया
में सुदरता बिहरण करती,
और किसीने पाई हो पर कभी नही पाई है भय ने।
आज चंचला की बाहों मे उलझा दी है बाहें मैने।

बिजली से अनुराग जिसे हो
उठकर आसमान को नापे,
आग चले आलिगन करने,
तब क्या भाप-धुएँ से काँपे,

साफ़, उजाले वाले, रक्षित
पथ मरों के कंदर के हैं;

जिनपर खतरे-जान नही था, छोड़ कभी दी राहें मैने।
आज चंचला की बाहों में उलझा दी है बाहें मैने।

बूँद पड़ी वर्षा की चूहे
और छछूँदर बिल में भागे,
देख नही पाते वे कुछ भी
जड़-पामर प्राणों के आगे;

घन से होड़ लगाने को तन-
मोह छोड़ निर्मम अंबर में

वज्र-प्रहार सहन करते है वैनतेय के पैने डैने।
आज चंचला की बाहों मे उलझा दी है बाहे मैने।

•

सुमुखि, तब मैं प्यार कर सकता तुम्हें था।

भौंह की तलवार से रक्षित तुम्हारे
युग दृगों को यदि चुराता,
और ले जाकर उन्हें मै उस नदी के
बीच नहलाता-धुलाता,
जो खुशी के और गम के आँसुओं को
साथ लेकर बह रही है,
और जिसकी हर लहर इसान की सुख-
दुख-कहानी कह रही है,
सुमुखि, तब मै प्यार कर सकता तुम्हे था।

सीख माँ की, बाप की, अध्यापकों की
बात पुस्तक से उठाई,
चुटकुले हमजोलियों ने जो सुनाए—
बस यही जिनकी कमाई,
कान को ऐसे चुराता यदि तुम्हारे
और ले जाता वहाँ पर,
स्वर्ग का उल्लास, नरकोच्छ्वास दोनों

साथ सुन पडते जहाँ पर,
सुमुखि, तब मै प्यार कर सकता तुम्हें था।

चरफरापन चटपटे का औ' मलाई
के बरफ़ की ठंड जानी
जिस अधर ने, जीभ ने, गन्ने गँडेरी
में रसों की सब कहानी,
मै उन्हे ले जा अगर संसार, जीवन,
प्यार की तह को छुलाता,
और हालाहल, सुरा के औ' सुधा के
स्वाद से परिचित कराता,
सुमुखि, तब मै प्यार कर सकता तुम्हें था।

साँस आती और जाती है इसीसे
जो हृदय दवता-उभरता,
और अपनी धौकनी-सी हरकतों से
रक्त को जो शुद्ध करता,
उस हृदय के साथ लग जब ज्वार-भाटा
भावनाओं का बताता,
और अपनी धड़कनो से उन कपाटों
की सिकड़ियाँ खटखटाता,
बंद जिनमें भेद है जिनको अकेला
कवि जमाने को सुनाता,
सुमुखि, तब मै प्यार कर सकता तुम्हें था।

जिन कपाटों की तरफ मै पीठ करता,
फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता।

कल तलक मै इस प्रतीक्षा मे खड़ा था
तुम हृदय का द्वार खोलो,
और जिह्वा, कंठ, तालू के नही, तुम
प्राण के दो बोल बोलो,
आज देरी हो चुकी है और मेरे
पाँव धीरज खो चुके है;
जिन कपाटो की तरफ मै पीठ करता,
फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता।

क्या तुम्हारा ख़्याल था मै पाँव अपने
तोड़कर बैठा हुआ हूँ,
औ' तुम्हारी इस उपेक्षा के लिए भी
मै तुम्हें देता दुआ हूँ;
जिदगी के रास्ते में ठहरने का
आज कल मौका किसे है;
खोलती भी तुम अगर पट दो दफ़ा बस
मुसकराता, दो दफ़ा बस आह भरता।

जिन कपाटों की तरफ़ मैं पीठ करता,
फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता।

और इतने के लिए भी लोग ऐसे
है कि जो तरसा किए है,
क्योंकि ऐसे ही मिले है जो कि दिल पर
लाख की मुहरे दिए हैं,
और उनका हास, उनकी आह, उनकी
बात कुठा मात्र होती।
मै मुखर होता अगर तो कौन मेरा
स्वर दबाता, कौन मेरी जीभ धरता।
जिन कपाटों की तरफ मै पीठ करता,
फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता।

और ऐसा है, कि मेरा भ्रम, कि पीछे
से भरी आवाज़ आती ?
और उसको सुन प्रतिध्वनि रूप मेरी
धकधकाती छिन्न छाती;
और कुछ विच्छिन्न कड़ियाँ जोड लेने
के बहाने थम गया हूँ,
बोल, कवि के मन, तुझे क्या आज अपनी
ज़िद नही रह-रह खटकती,
प्रण नही रह-रह अखरता।
जिन कपाटों की तरफ़ मै पीठ करता,
फिर न उनकी ओर अपनी दीठ करता।

७३

सुर सरोवर नीर-नहलाए परो को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

सूर्य-शशि के वंश में पैदा हुआ तू,
कीर्ति जिनकी जग उजागर,
वास तेरा तीर्थ, जिसको अनगिनत जन
है गए माथा झुकाकर,

हिम शिखर की स्वच्छ औ' पावन हवा ने
है जिन्हें उड़ना सिखाया,

सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

देख अपने साथियों को जो धरा से
बद्ध होकर हाथ अपने
हैं गगन की ओर फैलाए, बसाए
आँख में सतरंग सपने ।

एक वे है, जो कि अपनी साधना से
पक से ऊपर उठे हैं,
एक तू है, पंख अपना नीच कीचड़
में फँसाने जा रहा है ।

सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ फैला रहा है ?

और यह मत भूल तूने इस जगत में
क्या बड़ा सम्मान पाया !
कुंद-इंदु-तुषार-हार-धवल गिरा ने
है तुझे वाहन बनाया।
मोतियो का जो करे आहार, खाने
के लिए कतवार, टूटे !
सोच, तेरे साथ तेरे देवता पर
दाग़ लगने जा रहा है।
सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

वह मिली सत्ता तुझे, तू याद आए
जब सजाए प्रात प्राची,
वह महत्ता, न्याय और विवेक का तू
बन गया पर्यायवाची,
वह मिला व्यक्तित्व तुझको जो कि सागर
बीच उतराए समुज्ज्वल,
चेत हंस कुमार, डाबर है कि जिसमें
डूबने तू जा रहा है।
सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।
आज पथ में साथ जो होगा
सगा भाई बनेगा,
हाल भर जो पूछ लेगा
स्वर्ग-सुखदायी बनेगा,
जो चुभा, उसको कहूँगा
पद पकड़कर है बिठाता,
आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।

हाँ, कभी संसार, जीवन,
काल से आशा बड़ी थी,
एक ग़ज़ को नापने को
एक योजन की छड़ी थी;
तब निराशा आँख फाड़े
हर दिशा से देखती थी;
और था अभिशाप ही अभिशाप हर वरदान मुझपर।
आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।

स्वप्नमाती पुतलियों ने
सत्य को कूड़ा समझकर

है हजारों वार फेका
घूर पर, गंदी जगह पर,
फाड़ कितने गीत डाले
रद्दियों की टोकरी मे,
औ' बना क्रंदन पुराना, सृष्टि का नव गान मुझपर।
आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।

पर न जाने कब लगा, यह
स्वप्न है अभिमान मेरा,
मै स्वयं कितने अभावों
औ' कुभावों का बसेरा;
यह मनुजता, यह प्रकृति
मुझको लगी बहनें सहोदर;
फूल-सा लगने लगा जो था कभी पाषाण मुझपर।
आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।

अब नही सँग में प्रणय के
चाहिए बलिदान मुझको,
आज तो अभिभूत करने
को बहुत मुसकान मुझको,
आज करुणा के दृगों से
देखता कोई मुझे तो,
मै समझता हूँ कि नजरे डालता भगवान मुझपर!
आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझपर।

७५

आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो,
मै न खोलूँ द्वार कैसे !
एक दिन घायल हरिण-सा मै तुम्हारे
द्वार पर आया हुआ था,
श्वेत सरसिज-पंखुरी-सी उँगलियों से,
पर, नहीं तुमने छुआ था,
घाव तो भरता समय, सवेदनाएँ
भाव पर मरहम लगाती,
आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो,
मै न खोलूँ द्वार कैसे !

मैं अचानक ही भयानक जग-अरण्यक
में विचरता आ गया था,
किंतु उसकी नीति-रीति न जानता था
एकदम भोला, नया था,
एक अनजानी दिशा से तीर आया,
बिध गया, मै छटपटाया;
क्रूरता इतनी जहाँ नर है, न होगा
उस जगह पर प्यार कैसे !

आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो,
मै न खोलूँ द्वार कैसे !

और जब तुमने न पूछी बात, समझा
मै कि धोखा खा रहा हूँ,
जिन कपाटों पर कड़े जंदरे जड़े है
मै उन्हें खड़का रहा हूँ;
और अब मै जानता हूँ वे किसीकी
चोट से ही टूटते है;
जिस किसीने चोट पर चोटें सही हों,
वह बनेगा मर्द परदेदार कैसे !
आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो,
मै न खोलूँ द्वार कैसे !

स्वागतम् सबको सुनाकर कह रहा हूँ,
स्नेह लो, सवेदना लो,
हाथ मेरा दाग़ से डरता नही है,
रक्त की धारा धुला लो,
यह समय का तीर लगता है सभी को,
शुक्रिया इसके लिए है,
कर गया मानव मुझे जो, मै न उसका
मानता आभार कैसे !
आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो,
मै न खोलूँ द्वार कैसे !

औ' न अपना दोप देखो, औ' न मेरा
गुण सराहो, आर्द्रनयने,
तीर तुमको ही प्रथम लगता अगर तो
मै न करता, आर्त बयने,

ठीक वैसा ही कि तुमने जो किया था ?

जानता कोई नही है—

कब, कहाँ पर, कौन पोछेगा, किसीके

आसुओं की धार, कैसे !

आज तुम घायल मृगी-सी आ रही हो,

मै न खोलूँ द्वार कैसे !

साथ भी रखता तुम्हें तो, राजहंसिनि,
क्या हमारे प्यार का परिणाम होता !

जब कहा मैने कि है यह शुक्र जो
वेला विदा की पास आई,
कुछ तअज्जुब, कुछ उदासी, कुछ शरारत
से भरी तुम मुसकराई,
वक्त के डैने चले, तुम हो वहाँ, मैं
हूँ यहाँ, पर देखता हूँ,
साथ भी रखता तुम्हें तो, राजहंसिनि,
क्या हमारे प्यार का परिणाम होता !

स्वप्न का वातावरण हर चीज के
चारों तरफ़ मानव बनाता,
लाख कविता से, कला से पुष्ट करता,
अंत में वह टूट जाता,
सत्य की हर शक्ल खुलकर आँख के
अंदर निराशा झोंकती है,
और वह धुलती नहीं है ज्ञान-जल से,
दर्शनों से, मरमिटे इंसान धोता।

साथ भी रखता तुम्हें तो, राजहंसिनि,
क्या हमारे प्यार का परिणाम होता !

शीर्ष आसन से रुधिर की चाल रोको,
पर समय की गति न थमती ।
औ' खिजाबोरंग-रोग़न पर जवानी
है न ज़्यादा दिन बिलमती,
सिद्ध यह करते हुए जाते अगिनती,
द्वार खोलो और देखो,
और इस दयनीय-मुख के काफ़ले मे
जो न होता सुबह को, वह शाम होता ।
साथ भी रखता तुम्हे तो, राजहंसिनि,
क्या हमारे प्यार का परिणाम होता !

एक दिन है, जब तुम्हारे कुतलों से
नागिनें लहरा रही हैं,
और मेरी तनतनाई बीन से ध्वनि-
राग की धारा बही है,
और तुम जो बोलती हो, बोलता मै,
गीत उसपर शीश धुनता,
और इस सगीत-प्रीति समुद्र जल में
काल जैसे छिप गया है मार गोता ।
साथ भी रखता तुम्हें तो, राजहंसिनि,
क्या हमारे प्यार का परिणाम होता !

श्रौर यह तस्वीर कैसी, नागिने सब
केंचुलों का रूप धरतीं,
श्रौ' हमें जब घेरता है मौन उसको
सिर्फ खाँसी भंग करती,
श्रौ' घरेलू कर्ण-कटु झगड़े-बखेड़ों
को पड़ोसी सुन रहे हैं,
श्रौर बेटों ने नही है खर्च भेजा,
श्रौर हमको मुँह चिढ़ाता ढीठ पोता।
साथ भी रखता तुम्हें तो, राजहंसिनि,
क्या हमारे प्यार का परिणाम होता !

धरती को फाड बहार निकल आई बाहर,
अंदर घुटतीं मेरे मन की अभिलाषाएँ।

हर पेड हरा, हरियाली की सौ किस्मे है,
हर फूल रँगीला है अपनी ही रंगत मे,
हल्का-गहरा होकर सौ है हर एक रग,
होता हजार दूसरे रग की संगत में;
आँखें रंगों के मेले से परितृप्त हुई,
मेरी पूरब की नाक खोजती खुश्बू भी,
वह यहाँ नहीं, इस वक़्त रात की रानी,
चपा, मेहदी की क्यों याद न मुझको तड़पाए।
धरती को फाड़ बहार निकल आई बाहर,
अदर घुटतीं मेरे मन की अभिलापाएँ।

हो गंध न इनमें, लेकिन रस तो होता है,
वरना भौरा कैसे लिपटा-चिपटा रहता,
हो खड़े किसी भी तरुवर के नीचे जाकर
ऊपर से चिड़ियों के स्वर का झरना बहता;
हल्के-झीने परिधान पहन गौरांगिनियाँ
बैठीं-लेटी प्रियतम को लेकर लानों में,
हम परदेसी कमरे मे बैठ न गीत लिखें,
तो किस गोशे में जा अपने को बहलाएँ।
धरती को फाड बहार निकल आई बाहर,
अंदर घुटतीं मेरे मन की अभिलाषाएँ।

बौरे आमों पर बौराए भौंर न आए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई।
माना अब आकाश खुला-सा और धुला-सा,
फैला-फैला, नीला-नीला,
बर्फ-जली-सी, पीली-पीली दूब हरी फिर,
जिसपर खिलता फूल फबीला,
तरु की निरावरण डालों पर मूँगा, पन्ना
औ' दखिनहटे का झकझोरा,
बौरे आमों पर बौराए भौंर न आए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई।

माना, गाना गानेवाली चिड़ियाँ आईं,
सुन पड़ती कोकिल की बोली,
चली गई थी गर्म प्रदेशों मे कुछ दिन को
जो, लौटी हँसों की टोली,
सजी-बजी बारात खड़ी है रंग-बिरंगी,
किंतु न दूल्हे के सिर जब तक
मंजरियो का मौर-मुकुट कोई पहनाए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई।
बौरे आमों पर बौराए भौंर न आए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई।

डार-पात सब पीत पुष्पमय जो कर लेता
अमलतास को कौन छिपाए,
सेमल और पलाशो ने सिंदूर-पताके
नहीं गगन में क्यों फहराए ?

छोड़ नगर की सँकरी गलियाँ, घर-दर, बाहर
आया, पर फूली सरसों से

मीलो लबे खेत नही दिखते पियराए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई।
बौरे आमों पर बौराए भौर न आए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई।

प्रातः से संध्या तक पशुवत मेहनत करके
चूर-चूर हो जाने पर भी,
एक बार भी तीन सैकड़े पैसठ दिन में
पूरा पेट न खाने पर भी,

मौसम की मदमस्त हवा पी जो हो उठते
है मतवाले, पागल, उनके

फाग-राग ने रातों रक्खा नही जगाए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई।
बौरे आमों पर बौराए भौर न आए, कैसे समझूँ मधुऋतु आई।

७९

धरती मे सोए फूल, कली फिर जागो !

नील गगन से मग्न उतरती
नग्न किरण की माला,
अब उतार कर फेको तुम भी
तन से हिम का गाला,

शीत चुका है बीत, बसंती
निकला पुनः सबेरा,
धरती में सोए फूल, कली फिर जागो !

आँखों ने देखी फिर तरुवर
की शाखे अखुआई,
हवा दखिनही घूम रही है
भरमाई, भरमाई,

उसके चुंबन से झड़ती है
मणि-मरकत की लड़ियाँ,
तुम भी अपना वरदान उठो अब माँगो।
धरती मे सोए फूल, कली फिर जागो !

भ्रमरों के होठों में जागी
फिर से प्यास पुरानी,
पर कच्ची कलि के अधरों से
क्या पाते वे ? पानी !

समय विकसने, मधु, पराग से
भरने में लगता है,
संयम से लो कुछ काम, अधीर, अभागो !
धरती में सोए फूल, कली फिर जागो !

मैने अपनी बीन सँभाली,
तार कसे सब ढीले,
सुरा सुरों की खींची, जिसको
पीनी हो वह पी ले,

हाथ नशीले और उँगलियाँ—
रस में भीगी-भीगी,
प्राणों में गूँजो फिर, प्रणयी के रागो !
धरती में सोए फूल, कली फिर जागो !

अब दिन बदले, घड़ियाँ बदलीं,
साजन आए, सावन आया।

धरती की जलती साँसों ने
मेरी साँसों में ताप भरा,
सरसी की छाती दरकी तो
कर घाव गई मुझपर गहरा,
है नियति-प्रकृति की ऋतुओं में
सबंध कहीं कुछ अनजाना,
अब दिन बदले, घड़ियाँ बदलीं,
साजन आए, सावन आया।

तूफ़ान उठा जब अंबर में
अंतर किसने झकझोर दिया,
मन के सौ बंद कपाटों को
क्षण भर के अंदर खोल दिया,
झोंका जब आया मधुवन में
प्रिय का सदेश लिए आया—
ऐसी निकली ही धूप नहीं
जो साथ नहीं लाई छाया।

अब दिन बदले, घड़ियाँ बदली,
साजन आए, सावन आया।

घन के आँगन से बिजली ने
जब नयनों से संकेत किया,
मेरी बे-होश-हवास पड़ी
आशा ने फिर से चेत किया,
मुरझाती लतिका पर कोई
जैसे पानी के छींटे दे,
औ' फिर जीवन की साँसें ले
उसकी मृयमाण-जली काया।
अब दिन बदले, घड़ियाँ बदली।
साजन आए, सावन आया।

रोमांच हुआ जब अवनी का
रोमांचित मेरे अग हुए,
जैसे जादू की लकड़ी से
कोई दोनों को सग छुए,
सिचित-सा कठ पपीहे का,
कोयल की बोली भीगी-सी,
रस-डूबा, स्वर मे उतराया
यह गीत नया मैने गाया।
अब दिन बदले, घड़ियाँ बदली,
साजन आए, सावन आया।

८१

मै सुख पर, सुखमा पर रीझा, इसकी मुझको लाज नही है।

जिसने कलियों के अधरो में
रस रक्खा पहले शरमाए,
जिसने अलियों के पंखों में
प्यास भरी वह सिर लटकाए,
आँख करे वह नीची जिसने
यौवन का उन्माद उभारा,

मै सुख पर, सुखमा पर रीझा, इसकी मुझको लाज नही है।

मन में सावन-भादों बरसे,
जीभ करे, पर, पानी-पानी !
चलती-फलती है दुनिया में
बहुधा ऐसी बेईमानी,
पूर्वज मेरे, किंतु, हृदय की
सच्चाई पर मिटते आए,

मधुवन भोगे, मरु उपदेशे मेरे वंश रिवाज नहीं है।
मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा, इसकी मुझको लाज नहीं है।

चला सफर पर जब तब मैने
पथ पूछा अपने अनुभव से,
अपनी एक भूल से सीखा
ज्यादा, औरो के सच सौ से,

मै बोला जो मेरी नाड़ी
में डोला, जो रग में घूमा,

मेरी वाणी आज किताबी नक़्शों की मोहताज नही है।
मै सुख पर, सुखमा पर रीझा, इसकी मुझको लाज नही है।

अधरामृत की उस तह तक मैं
पहुँचा विष को भी चख आया,
और गया सुख को पिछुआता
पीर जहाँ वह बनकर छाया,

मृत्यु गोद में जीवन अपनी
अंतिम सीमा पर लेटा था,

राग जहाँ पर तीव्र अधिकतम है, उसमें आवाज नहीं है।
मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा, इसकी मुझको लाज नहीं है।

८२

मै तुम्हारा स्नेह, संवेदन, समादर चाहता हूँ,
पर नही उस दाम पर जो माँगते तुम।

स्नेह, संवेदन, समादर की जरूरत,
कौन ऐसा है, नही महसूस करता,
और कुछ सौभाग्यशाली है कि जिनपर
यह सुखद झरना अचानक फूट पड़ता,

किंतु मै हर बूँद की कीमत अदा कर चाहता हूँ
लूँ पलक पर, या अधर पर, या बदन पर;
मै तुम्हारा स्नेह, सवेदन, समादर चाहता हूँ,
पर नही उस दाम पर जो माँगते तुम।

औ' तुम्हारे घर नही जल की कमी है,
पर तुम्हारे अर्घ्य की तब धार बहती,
जब नगर-घर खाक हो जाता किसीका,
जब किसीके सिर न तृण की छाँह रहती;

औ' तुम्हारे अर्घ्य मे कितना प्रलोभन
है कि कुछ घर फूँक खुद बनते तमाशा,

और जो है आग से संघर्ष करते, होड़ लेते
भूल करके भी न उनको ताकते तुम।
मै तुम्हारा स्नेह, सवेदन, समादर चाहता हूँ,
पर नही उस दाम पर जो माँगते तुम।

औ' तुम्हारे घर न दीपों की कमी है,
पर तुम्हारी आरती तब है सँवरती,
जब किसीके नेत्र-दिल के दीप बुझते,
जब किसीपर रात अँधियारी उतरती,
औ' तुम्हारी आरती मे क्या प्रलोभन
है कि कुछ अपने दिए खुद ही बुझाते,
और जो तम को झगड़-लड़ चूर करते, दूर करते
भूल करके भी न उनको ताकते तुम।
मै तुम्हारा स्नेह, संवेदन, समादर चाहता हूँ,
पर नही उस दाम पर जो माँगते तुम।

सब समझ मैंने लिया, तुमको नहीं है
खोज उनकी जो कि अधिकारी बने है,
स्नेह, सवेदन, समादर के; तुम्हें तो
खोज उनकी जो कि लाचारी बने है,
जिंदगी की, वक्त की, जिनको कि करुणा
का बनाकर पात्र तुम यश-पुण्य लूटो।
खैरियत है, युद्ध मेरे अग्नि-ज्वाला
से, अँधेरे से, जमाने से ठने हैं।

स्नेह-संवेदन-समादरणीय बन पाऊँ, न पाऊँ;
मैं नहीं दयनीय बनना चाहता हूँ;
साफ़ सौदा यह नहीं, अपनी दया का मूल्य ज़्यादा
और मेरे मान का कम आँकते तुम।
मै तुम्हारा स्नेह, संवेदन, समादर चाहता हूँ,
पर नहीं उस दाम पर जो माँगते तुम।

८३

यह कमल का वास है, दादुर,
इसे पहचान तू सकता नहीं है।

भूमि सूखी है कि नम है,
धूप चटकी है कि तम है,
स्वाद कड़ुआ है कि मीठा,
रव कि नीरवता अगम है,
यह सभी तू जानता है,
मानता हूँ, पर बड़ी है नाक तो क्या,
यह कमल का वास है, दादुर,
इसे पहचान तू सकता नहीं है।

यह नहीं छीलर कि जिसमें
तू छपकछैया करेगा,
या हवा, जिसमें मकोड़ों
को पकड़ मुँह में धरेगा;
साँस, अथवा, फेफड़े की,
गाल जो तुझको बजाने में मदद दे;
और जग में कुछ, कहीं उपयोग
का है, जान तू सकता नहीं है।

यह कमल का वास है, दादुर,
इसे पहचान तू सकता नहीं है।

यह कमल की पूर्ण सत्ता
का बड़ा बारीक सत है,
गानरत की प्राण-ध्वनि है,
या किसी कवि का कवित है,
या कि विरही यक्ष का उच्छवास
जिससे मेघदूत प्रसूत होता,
या निमत्रण यक्षिणी का
मौन बैठी जो कि अलका में कही है।
यह कमल का वास है, दादुर,
इसे पहचान तू सकता नही है।

भौंर सुनता यह निमंत्रण,
और गिरि-वन खंड करता
पार, आता, गुनगुनाता,
और पंकज में समाता;
नाक तुझको, सूँघने की
सूक्ष्मता तुझमें कहाँ, कीचड़-विहारी,
कीट-भक्षी जीभ से मकरंद–
मधु को छान तू सकता नहीं है।
यह कमल का वास है, दादुर,
इसे पहचान तू सकता नहीं है।

८४

लाख देवता तुम हो, मेरी, किंतु, वेदना क्या जानोगे!
अंतर्दृष्टि मिली है तुमको,
देखो भूत, भविष्यत् देखो,
चीज तुम्हें दिखलाई देगी,
किंतु कहाँ बल, क़ीमत देखो,
जिसपर मैं बिकता, बलि होता
आया, समझ नहीं तुम सकते,
लाख देवता तुम हो, मेरी, किंतु, वेदना क्या जानोगे!

कथा नहीं है सुन लेने की;
जिसके पाँव न जाय बिवाई—
वृद्ध इसे कहते आए हैं—
वह क्या जाने पीर पराई;
पथ का तुम इतिहास बतादो,
वर्णन कर दो पाँव भरे भी,
किंतु भरे दिल के अंदर जो, क्या तुम उसको पहचानोगे!
लाख देवता तुम हो, मेरी, किंतु, वेदना क्या जानोगे!

दर्द भुगतने वालों की भी
हमदर्दी को देख चुका हूँ,
मत मेरा मुँह खुलवाओ, मैं
भीतर-भीतर बहुत फुँका हूँ,

अब दरकार नहीं है उसकी,
काफ़ी मैं एहसान तुम्हारा

मानूँगा, अपने हँसने की वस्तु न जो मुझको मानोगे।
लाख देवता तुम हो, मेरी, किंतु, वेदना क्या जानोगे !

नहीं मुझे मालूम कि मेरी
साँसों का यह जो दो-तारा,
इसको कसकर झंकृत करने
में कितना है हाथ तुम्हारा,

है तो, मेरे एक प्रश्न का
उत्तर दे सकते हो ? पूछूँ ?

मेरे जीवन की वीणा को और अभी कितना तानोगे ?
लाख देवता तुम हो, मेरी, किंतु, वेदना क्या जानोगे !

८५

मैं सिफ़ारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ, तो न पाऊँ !

कामना कुछ प्राप्त करने की हुई तो
प्रथम अधिकारी बना हूँ,
और फिर मैं काल के, संसार के, औ'
भाग्य के आगे तना हूँ;
मैं वहाँ झुककर जहाँ झुकना ग़लत है,
स्वर्ग ले सकता नहीं हूँ,
मैं सिफ़ारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ, तो न पाऊँ !

झूठ बुलवाए न जिह्वा, सर्वदा मैने
नहीं है न्याय पाया,
और थोड़ी-सी अकड़ से, जानता हूँ,
जो न पाया, जो गँवाया,
योग्यता की पोल में क्या चीज भरकर
कुछ उसे सीधी किए हैं,
रीढ़ ही जो तोड़ बैठे होड़ क्या उनसे लगाऊँ!
मैं सिफ़ारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ, तो न पाऊँ!

वें कहेंगे क्या, न जिसको साँस मेरी
रात-दिन कहती रही है,
झूठ मेरे प्राण की ध्वनि, और उनकी
जीभ की चुलबुल सही है,
जबकि मेरे बोल खुद कहते नहीं है
वे हृदय से फूटते हैं,
सिद्ध करने को इसे क्या और से क़समें खिलाऊँ !
मै सिफ़ारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ, तो न पाऊँ !

और जब उनकी प्रतिध्वनि ही तुम्हारे
बोल से आती नहीं है,
तो मुझे यह जान लेना चाहिए था
हो रही ग़लती कहीं है;
घाटियाँ आवाज़ पर आवाज़ देतीं
और गलियाँ मौन रहती;
चल, अभागे मन, कही अब और मैं तुझको रमाऊँ !
मै सिफ़ारिश से तुम्हारा प्यार पाऊँ, तो न पाऊँ !

८६

मै सदा संसार से लड़ता रहा हूँ,
बस यही है हार मुझको, जीत मुझको।
हूँ नहीं उन धाकड़ों में जो कि अपनी
चाक पर जग को चलाकर है बिठाते
धाक अपनी, औ' न उनमें जो जगत के
हुक्मनामों पर ठहरते, पग बढ़ाते;
जो खड़े होकर तमाशा देखते हैं,
पूछते हैं क्या हुआ इसका नतीजा;
मै सदा संसार से लड़ता रहा हूँ,
बस यही है हार मुझको, जीत मुझको।

बाँध जो बंदूक औ' तलवार फिरते,
बस उन्हें दुनिया सिपाही मानती है;
किंतु बे-हथियार के जो जंग करते
ढंग उनका वह कहाँ पहचानती है;
युद्ध करते सैकड़ों यों मौन रहकर
और उनका घाव, उनकी चोट, पीड़ा
जानता कोई नही उनके अलावा;
कुछ मुखरने को मिला है गीत मुझको।

मैं सदा संसार से लड़ता रहा हूँ,
बस यही है हार मुझको, जीत मुझको।

एक दुनिया है हृदय के बीच में भी
जो किसीको भी नहीं देती दिखाई,
और इसको जानता कोई नहीं है
जिस तरह मैंने वहाँ पर की लड़ाई,
जो वहाँ पहनी फ़तह की फूलमाला,
जो वहाँ गिरकर धरा की धूल--चाटी;
है मुझे फूला नहीं देखा विजय ने
औ' पराजय ने नही, भय-पीत मुझको।
मैं सदा संसार से लड़ता रहा हूँ,
बस यही है हार मुझको,जीत मुझको।

कौन कहता है कि आधी रात को मै
बैठ शब्दों के तुकों को जोड़ता हूँ,
भावना के भेद को जो है दबाए
सत्य में, उन पत्थरों को तोड़ता हूँ,
आग निकले या कि जल की धार निकले,
राग मधुमय या करुण चीत्कार निकले,
चीर कर जो संग की छाती निकलती
है विकलता, बस वही संगीत मुझको।
मैं सदा संसार से लड़ता रहा हूँ,
बस यही है हार मुझको, जीत मुझको।

और, जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गँभीरे !
आसमानी इस प्रलोभन में, बता तो,
क्या अनोखा, क्या नया है,
जो कि इसको लोकने को लोभियों का
आज मेला जुड़ गया है;
होड़ इनसे, जोड़ इनके साथ करने
की नही तुझको ज़रूरत,
और, जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गँभीरे !

है बड़ा अचरज कि नर ने किस तरह फिर
बानरी आकार पाया,
रीढ़ जो थी की गई सीधी, मनुज ने
किस तरह उसको झुकाया;
आज तू अपवाद बनकर बैठ जिससे
सिद्ध फिर संसार में हो,
फिर पड़ी होती नहीं हैं जो कि अपने
से खड़ी होतीं लकीरें।

और, जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गँभीरे !

और ये जितने उछलते-कूदते हैं
क्या सभी कुछ पा रहे हैं ?
कुछ न पाएँ, पर जमाने की नजर में
तो उभरते आ रहे है;
जो कि अपने को दिखाते घूमते हैं,
देखते ख़ुद को कहाँ है,
और ख़ुद को देखनेवाली नजर
नीचे सदा रहती गड़ी, रे !
और, जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गँभीरे !

और इस हल्की हवा फुल्की सतह पर
दीखता उड़ता हुआ जो,
या कि है कीड़ा-मकोड़ा, या कि रजकण,
या कि जो तिनका, भुआ जो;
दाँत से इनको पकड़कर कुछ बड़े ख़ुश
हो रहे हैं, पर तुझे तो
सिर्फ़ लेना है अतल गहराइयों से
ठीकरे हों या कि हीरे !
और, जो ऊँचे उचकते; स्वाभिमानी,
पैठ तू गहरे-गँभीरे !

८८

तेरे मन की पीर ओसकण समझेंगे, न कि तारे।

नीलम-नील महल के ऊपर
मणि-दीपों की माला;
गया असर कर क्या तुझपर भी
वैभव का उजियाला!

अंतर आभावाले, तेरी
क़द्र वहाँपर क्या है!
नीचे का पानी रस, रस के अंदर अमृत धारे।
तेरे मन का मोल ओसकण समझेंगे, न कि तारे।

उच्चासन आसीन भले ही
तुझे दुआएँ दे ले,
गो ज़्यादा संभव है तेरी
क़िस्मत से वे खेलें;

ताज पिन्हा दें तो भी, होगा
ठुकराई किरणों का;
जल की बूँद प्रतीक्षा में है, तेरे पाँव पखारे।
तेरे मन का मान ओसकण समझेंगे, न कि तारे।

जड़ता के इस चाकचक्य पर
आँख सभी की जाती,

किंतु किसीने इसके पीछे
सुनी धड़कती छाती ?

यह पानी की बूंद पखुरियों
की साँसों पर हिलती;
यह अपनी पुतली में सारे नभ का दर्द सँवारे।
तेरे मन का भार ओसकण समझेंगे, न कि तारे।

चमक-दमक या तड़क-भड़क को
समझ न अंतर्ज्वाला,
नहीं हुआ करता हर जलने-
वाला गलनेवाला,

गले-ढले ही जले हुओं की
पीर परख पाते हैं,
इन जल-तन वालों ने जाने हैं मन के अंगारे।
तेरे मन का ताप ओसकण समझेंगे, न कि तारे।

आदि काल से पृथ्वी का दुख-
ताप उन्होंने देखा,
किन्तु नहीं उनके आनन पर
पड़ी एक भी रेखा;

इन बूंदों पर एक-एक क्षण-
कण की कसक सिसकती;
व्यथा-कथा-संसृति की छूते इनके कोर-किनारे।
तेरे मन की पीर ओसकण समझेंगे, न कि तारे।

तारों का सारा नभ-मंडल, आँसू का नयनों का घेरा।
एक दिवस यह आज़ादी थी—
जल-कण लूँ, या रत्न गगन का;
क्षण न लगा मुझको निर्णय में,
मालिक था मैं अपने मन का;
अपना भाग्य चुना जब मैंने
तब भी यह मालूम मुझे था—
तारों का सारा नभ-मंडल, आँसू का नयनों का घेरा।

ठीक पसंद सदा थी मेरी—
कब मैने दावा दिखलाया,
एक बड़ी सूची है उनकी
जिनको अपनाकर पछताया,
फूलों के ऊपर भी आया,
शूलों के ऊपर भी आया,
किंतु कभी भी अब तक मैंने आँसू का उपहार न फेरा।
तारों का सारा नभ-मंडल, आँसू का नयनों का घेरा।

तारों की आभा में ऐंठा
बैठा लगता है अभिमानी,
आँखों के पानी में झलका
करती जग की दर्द-कहानी,
एक बूँद से भी दुनिया का
ताप बहुत कुछ मिट जाता है;
लाखों तारे कर पाते हैं किसके घर का दूर अँधेरा।
तारों का सारा नभ-मंडल, आँसू का नयनों का घेरा।

पलकों के भरते ही अंतर
लेने लगता है हलकोरे,
अंतर के हलकोरों ने ही
वे सब कूल-कगारे तोड़े,
बोरे, जो मानव-मानव के
बीच बनाते है सीमाएँ;
और उन्हींके ऊपर चलता आया है भावों का बेड़ा।
तारों का सारा नभ-मंडल, आँसू का नयनों का घेरा।

उम्र ही मेरी चुकी है बीत जीवन-विश्व से लड़ते-झगड़ते।
शाप मेरा था बड़ा सबसे, कि अपने
साथ मैं था स्वप्न लाया,
और बिगड़ी आदतों की आँख को जब
सत्य जगती का न भाया,
तब सिवा विद्रोह करने के नहीं था
और कोई पास चारा,
उम्र ही मेरी चुकी है बीत जीवन-विश्व से लड़ते-झगड़ते।

औ' ग़लत या ठीक समझो, अस्त्र अपना
शब्द को मैंने चुना था,
क्रांतिकारी, पूर्व मेरे भी, इसीसे
लड़ चुके थे, यह सुना था;
तब नहीं था ज्ञान इनपर शान रखने
की हुआ करती जरूरत;
धार इनको दे वही पाते इन्हें जो है कलेजे से रगड़ते।
उम्र ही मेरी चुकी है बीत जीवन-विश्व से लड़ते-झगड़ते।

और मेरे साथ बहुतों ने शुरू की
थी ज़माने से लड़ाई,
किंतु उनकी ही जबानें गा रही है
आज उसकी गुण-बड़ाई,

और मैं संसार से आरंभ करके
साथ अपने लड़ रहा हूँ,

दो विरोधी शत्रु मुझमें सर्वदा से है रहे दबते-उभरते।
उम्र ही मेरी चुकी है बीत जीवन-विश्व से लड़ते-झगड़ते।

हूँ न उनमें जो उदर के औ' कमर के
बीच में मस्तिष्क पाए,
औ' न उनमें, जो कि दुनिया से परे हो
इश्क मस्ताना लगाए;

आदमी हूँ, दम्भ इसका है, बना हूँ
देवता-पशु का रणस्थल,

और तै है श्वान करते संधि जीवन से कि पहुँचे संत करते।
उम्र ही मेरी चुकी है बीत जीवन-विश्व से लड़ते-झगड़ते।

९१

गूँजा करते हैं जो तेरे अंतर्मन में,
उनमें कोई क्या झीना स्वर मेरा भी है ?

निर्जन पर्वत पर बहनेवाला निर्झर जो
संगीत शिलाखंडों के बीच सुनाता है,
वह इसे पूछने को कब रमता-थमता है,
कोई उसको सुनता-गुनता, अपनाता है ;

'स्वांत: सुखाय', फिर, तुलसी गाया करते हैं,
मुझसे तो यह साधना बरी जा सकी नहीं ;

इतनी जड़ता के ऊपर, इतनी चेतनता
के नीचे, मुझको प्रश्न सदा अकुलाता है–

गूँजा करते है जो तेरे अंतर्मन में,
उनमें कोई क्या झीना स्वर मेरा भी है ?

पर्वत, घाटी, सरिता के तट से, खँडहर से
मेरे रागों की प्रतिध्वनियाँ तो आती है,
दर्पण में दिखलाई पड़नेवाली छाया
किसके तन का एकाकीपन हर पाती है ?

हूबहू नक़ल करके वे मेरे लहजों का
उपहास नही करती हैं, तो क्या करती हैं ?

जो उनके उत्तर में उभरे, सिहरे, धड़के,
मै पूछ रहा हूँ, क्या ऐसी भी छाती है ?

जो तू दुहराती कड़ी अकेली साँझों को,
उनमें कोई टूटा आखर मेरा भी है ?
गूँजा करते हैं जो तेरे अंतर्मन में,
उनमें कोई क्या झीना स्वर मेरा भी है ?

कितनों ने अपने मन के महल ढहाए है
तेरा राजप्रासाद खड़ा हो अंबर में,
कितनों ने अपने घर के दीप बुझाए है
जगमग-जगमग हर कोना हो तेरे घर में,

कितनों ने अपने जी के बाग उजाड़े है
फूलों से तेरी सेज सजे सतखंडे पर,

मेरी सारी पूँजी कुछ मुखरित सपने थे;
अपनी तनहाई की अलसाई भुरहर[1] में

तू याद जगा जिनकी अँगड़ाई लेती है,
उनमें कोई सोया खंडहर मेरा भी है ?
गूँजा करते है जो तेरे अंतर्मन में,
उनमें कोई क्या झीना स्वर मेरा भी है ?

---

[1] (अवधी) भोर, सुबह।

९२

माना मैने मिट्टी, कंकड़, पत्थर पूजा;
अपनी पूजा करने से तो मै बाज रहा।
दर्पण से अपनी चापलूसियाँ सुनने की
सबको होती है, मुझको भी कमज़ोरी थी,
लेकिन तब मेरी कच्ची गदहपचीसी थी,
तन कोरा था, मन भोला था, मति भोरी थी,
है धन्यवाद सौ बार विधाता का जिसने
दुर्बलता मेरे साथ लगा दी एक और;
माना मैने मिट्टी, कंकड़, पत्थर पूजा;
अपनी पूजा करने से तो मै बाज़ रहा।

धरती से लेकर, जिसपर तिनके की चादर,
अंबर तक, जिसके मस्तक पर मणि-पाँती है,
जो है, सबमे मेरी दयमारी आँखों को
जय करनेवाली कुछ बातें मिल जाती है;
खुलकर, छिपकर जो कुछ मेरे आगे पड़ता
मेरे मन का कुछ हिस्सा लेकर जाता है,
इस लाचारी से लुटने और उजड़नेवाली
हस्ती पर मुझको हर लमहा नाज़ रहा।

माना मैने मिट्टी, कंकड़, पत्थर पूजा;
अपनी पूजा करने से तो मैं बाज रहा।

यह पूजा की भावना प्रबल है मानव में,
इसका कोई आधार बनाना पड़ता है,
जो मूर्ति और की नही बिठाता है अंदर,
उसको ख़ुद अपना बुत बिठलाना पडता है,
यह सत्य, कल्पतरु के अभाव में रेड़ सीच
मैने अपने मन का उद्गार निकाला है;
लेकिन एकाकी से एकाकी घड़ियों में
मैं कभी नहीं बनकर अपना मोहताज रहा।
माना मैंने मिट्टी, कंकड़, पत्थर पूजा;
अपनी पूजा करने से तो मैं बाज़ रहा।

अब इतने ईटें, कंकड, पत्थर बैठ चुके,
वह दर्पण टूटा, फूटा, चकनाचूर हुआ,
लेकिन मुझको इसका कोई पछताव नहीं
जो उनके प्रति संसार सदा ही क्रूर हुआ;
कुछ चीजें खडित होकर साबित होती हैं;
जो चीजें मुझको साबित साबित करती हैं,
उनके ही गुण तो गाता मेरा कंठ रहा,
उनकी ही धुन पर बजता मेरा साज रहा।
माना मैंने मिट्टी, कंकड़, पत्थर पूजा;
अपनी पूजा करने से तो मैं बाज रहा।

६३

दे मन का उपहार सभीको, ले चल मन का भार अकेले।

लहराया है दिल तो ललका
जा मधुबन में, मैदानों में,
बहुत बड़े वरदान छिपे है
तान, तरानों, मुसकानों में;
घबराया है जी तो मुड़ जा
सूने मरु, नीरव घाटी में,
दे मन का उपहार सभीको, ले चल मन का भार अकेले।

किसके सिर का बोझा कम है
जो औरों का बोझ बँटाए,
होठों के सतही शब्दों से
दो तिनके भी कब हट पाए;
लाख जीभ में एक हृदय की
गहराई को छू पाती है;
कटती है हर एक मुसीबत—एक तरह बस—झेले-झेले।
दे मन का उपहार सभीको, ले चल मन का भार अकेले।

छुटकारा तुमने पाया है,
पूछूँ तो, क्या क़ीमत देकर,
कर्ज़ चुका आए तुम अपना,
लेकिन मुझको ज्ञात कि लेकर

दया किसीकी, कृपा किसीकी,
भीख किसीकी, दान किसीका;

तुमसे सौ दर्जे अच्छे वे जो अपने बंधन से खेले।
दे मन का उपहार सभीको, ले चल मन का भार अकेले।

ज़ंजीरों की झनकारों से
है वीणा के तार लजाते,
जीवन के गंभीर स्वरों को
केवल भारी हैं सुन पाते,

गान उन्हीका मान जिन्हें है
मानव के दुख-दर्द-दहन का,

गीत वही बाँटेगा सबको, जो दुनिया की पीर सके ले।
दे मनका उपहार सभीको, ले चल मन का भार अकेले।

६४

मैंने जीवन देखा, जीवन का गान किया।

वह पट ले आई, बोली, देखो एक तरफ़,
जीवन-ऊषा की लाल किरण, बहता पानी,
उगता तरुवर, खर चोंच दबा उड़ता पंछी,
छूता अंबर को धरती का अंचल धानी;
दूसरी तरफ़ है मृत्यु-मरुस्थल की संध्या
में राख-धुएँ में धँसा हुआ कंकाल पड़ा।
मैंने जीवन देखा, जीवन का गान किया।

ऊषा की किरणों से कंचन की वृष्टि हुई,
बहते पानी में मदिरा की लहरें आईं,
उगते तरुवर की छाया में प्रेमी लेटे,
विहगावलि ने नभ में मुखरित की शहनाई,
अंबर धरती के ऊपर बन आशीष झुका
मानव ने अपने सुख-दुख में, संघर्षों में,
अपनी मिट्टी की काया पर अभिमान किया।
मैंने जीवन देखा, जीवन का गान किया।

मैं कभी, कही पर सफर खत्म कर देने को
तैयार सदा था, इसमें भी थी क्या मुश्किल;
चलना ही जिसका काम रहा हो दुनिया में
हर एक क़दम के ऊपर है उसकी मंजिल;
जो कल पर काम उठाता हो वह पछताए,
कल अगर नही फिर उसकी किस्मत में आता;
मैंने कल पर कब आज भला बलिदान किया।
मैंने जीवन देखा, जीवन का गान किया।

काली, काले केशों में काला कमल सजा,
काली सारी पहने चुपके-चुपके आई,
मैं उज्ज्वल-मुख, उजले वस्त्रों में बैठा था
सुस्ताने को, पथ पर थी उजियाली छायी,
'तुम कौन ? मौत ? मैं जीने की ही जोग-जुगत
में लगा रहा।' बोली, 'मत घबरा, स्वागत का
मेरे, तूने सबसे अच्छा सामान किया।'
मैंने जीवन देखा, जीवन का गान किया।

६५

ध्वनि साथ लिए जाता हूँ, प्रतिध्वनि छोड़े जाता हूँ।

था ज्ञात मुझे भी, तुझको भी
आया हूँ जाने को,
कुछ वक़्त मिला था मुझको गाने,
गीत सुनाने को,
कुछ अपने सूने पथ, कुछ तेरी
सूनी घड़ियों को,
ध्वनि साथ लिए जाता हूँ, प्रतिध्वनि छोड़े जाता हूँ।

जब प्रात विहंगम-भँवर धरणि
को जाग जगाएँगे,
जब रात गगन के तारे मिलकर
लोरी गाएँगे,
तब उनके कंठों में मेरा भी
कंठ मिला होगा;
मैं एक स्वरों का नाता सबसे जोड़े जाता हूँ।
ध्वनि साथ लिए जाता हूँ, प्रतिध्वनि छोड़े जाता हूँ।

९६

मैंने ऐसा कुछ कवियों से सुन रक्खा था
जब घटनाएँ छाती के ऊपर भार बनें,
जब साँस न दिल को लेने दें आजादी से
टूटी आशाओं के खँडहर, टूटे सपने,
तब अपने मन की बेचैनी को छंदों में
संचित कर कोई गाए और सुनाए तो
वह मुक्त गगन में उड़ने का-सा सुख पाता।
लेकिन मेरा तो भार बना ज्यों का त्यो है,
ज्यों के त्यों बंधन हैं, ज्यों की त्यों बाधाएँ,
मैंने गीतों को रचकर के भी देख लिया।

'वे काहिल है जो आसमान के परदे पर
अपने मन की तस्वीर बनाया करते है,
कर्मठ उनके अदर जीवन की साँसें भर
उनको नभ से धरती पर लाया करते हैं।'
आकाशी गगा से गन्ना सींचा जाता,
अबर का तारा दीपक बनकर जलता है,
जिसके उजियारे बैठ हिसाब किया जाता।

उसके जल में अब ख्याल नहीं बहते आते,
उसके दृग से अब झरती रस की बूँद नहीं,
मैंने सपनों को सच करके भी देख लिया।

यह माना मैंने खुदा नहीं मिल सकता है
लंदन की धन-जोबन-गर्वीली गलियों में,
यह माना उसका ख्याल नहीं आ सकता है
पेरिस की रसमय रातों की रँगरलियों में,
जो शायर को है शानेखुदा उसमें तुमको
शैतानी गोरखधंधा दिखलाई देता,
पर शेख़, भुलावा दो उनको जो भोले है।
तुमने कुछ ऐसा गोलमाल कर रक्खा था,
खुद अपने घर में नहीं खुदा का राज मिला,
मैंने क़ाबे का हज करके भी देख लिया।

रिंदों ने मुझसे कहा कि मदिरा पान करो,
ग़म ग़लत इसीसे होगा, मैंने मान लिया,
मैं प्याले में डूबा, प्याला मुझमें डूबा,
मित्रों ने मेरे मंसूबे को मान दिया।
बंदों ने मुझसे कहा कि यह कमज़ोरी है,
इसको छोड़ो, अपनी इच्छा का बल देखो;
तो लो, मैंने उनका कहना भी कान किया।
मैं वहीं, वहीं पर ग़म हैं, दुर्बलताएँ है,
मैंने मदिरा को पीकर के भी देख लिया,

मैने मदिरा को तज करके भी देख लिया।
मैने काबे का हज करके भी देख लिया।
मैंने सपनों को सच करके भी देख लिया।
मैंने गीतों को रच करके भी देख लिया।

९७

रात की हर साँस करती है प्रतीक्षा—
द्वार कोई खटखटाएगा !

दिवस का मुझपर नही अब
कर्ज बाक़ी रह गया है,
जगत के प्रति भी न कोई
फर्ज बाक़ी रह गया है,

जा चुका जाना जहाँ था,
आ चुके आना जिन्हें था,

इस उदासी के अँधेरे में बता, मन,
कौन आकर मुसकराएगा ?
रात की हर साँस करती है प्रतीक्षा—
द्वार कोई खटखटाएगा !

'वह, कि जो अंदर स्वयं ही
आ सकेगा खोल ताला,
वह, भरेगा हास जिसका
दूर कोनों में उजाला,

वह, कि जो इस जिंदगी की
चीख़ और पुकार को भी
एक रसमय रागिनी का रूप दे दे,
एक ऐसा गीत गाएगा।'
रात की हर साँस करती है प्रतीक्षा—
द्वार कोई खटखटाएगा!

मौन पर मै ध्यान इतना
दे चुका हूँ बोलता-सा
जान पड़ता, औ' अँधेरा
पुतलियाँ दो खोलता-सा,
लाल, इतना घूरता मै
एकटक उसको रहा हूँ,
पर कहाँ संगीत है वह, ज्योति है वह
जो कि अपने साथ लाएगा?
रात की हर साँस करती है प्रतीक्षा—
द्वार कोई खटखटाएगा!

और बारंबार मैं बलि-
हार उसपर जो न आया,
औ' न आने का समय-दिन
ही कभी जिसने बताया,
और आधी ज़िंदगी भी
कट गई जिसको परखते,

किंतु उठ पाता नहीं विश्वास मन से—
वह कभी चुपचाप आएगा।
रात की हर साँस करती है प्रतीक्षा—
द्वार कोई खटखटाएगा।

९८

ओ भोले, दिग्भ्रांत बटोही,
एक रास्ता अब भी है।

'इस पथ पर लुढका तो बस
पाताल पुरी में ठहरेगा।'
'इसपर बढ़ता तो चट्टानों
से पग-पग टक्कर लेगा।'

'जंगल की इस भूल-भुलैया
में फँस कोई निकला है?'

'बैतरनी जो पार करेगा
पहले, इसको तैरेगा।'

ताड़-वृक्ष के ऊपर बैठा
वृद्ध गृद्ध यह कहता है—

'ओ भोले, दिग्भ्रांत बटोही,
एक रास्ता अब भी है।'

छुड़ा लिए कुछ गए और कुछ
खुद ही मुझको छोड़ चले,
मैंने भी उनसे मुँह मोड़ा
जो मुझसे मुँह मोड़ चले,

कुछ का साथ निभाना मेरी
रुचि के, बस के बाहर था।
अच्छा है, इस पथ का पंथी
सारे बंधन तोड़ चले।
तरु-कोटर के अंदर बैठा
अंधा उल्लू कहता है—
'उन टूटे रिश्तों से तेरा
एक वास्ता अब भी है।'
'ओ भोले, दिग्भ्रांत बटोही,
एक रास्ता अब भी है।'

सुनी कहानी, कही कहानी,
स्वयं कहानी एक बना,
चौथी बात किया करता है
क्या कोई संसार-जना ?
कोई पूरी होती, कोई
सिर्फ़ अधूरी रह जाती।
सुख, दुख, दुविधा छोड़ किसीका
अंत हुआ किसमें, कहना ?
एक डाल पर बैठा कागा
आँख घुमाकर कहता है—
'जिसका भेद समझना तुझको
एक दास्ताँ अब भी है।'

'ओ भोले, दिग्भ्रांत बटोही,
एक रास्ता अब भी है।'

'उन टूटे रिश्तों से तेरा
एक वास्ता अब भी है।'

'जिसका भेद समझना तुझको
एक दास्ताँ अब भी है।'

•

९९

यह जीवन औ' संसार अधूरा इतना है,
कुछ बे तोड़े कुछ जोड़ नहीं सकता कोई।

तुम जिस लतिका पर फूली हो, क्यों लगता है,
तुम उसपर आज पराई हो ?
मैं ऐसा अपने ताने-बाने के अंदर
जैसे कोई बलवाई हो।

तुम टूटोगी तो लतिका का दिल टूटेगा,
मै निकलूंगा तो चादर चिरबत्ती होगी।

यह जीवन औ' संसार अधूरा इतना है,
कुछ बे तोड़े कुछ जोड़ नहीं सकता कोई।

पर इष्ट जिसे तुमने माना, मैने माना,
माला उसको पहनानी है,
जिसको खोजा, उसकी पूजा कर लेने में
हो जाती पूर्ण कहानी है;

तुमको लतिका का मोह सताता है, सच है,
आता है मुझको बड़ा रहम इस चादर पर;

निर्माल्य देवता का बनने का व्रत लेकर
हम दोनों में से तोड़ नहीं सकता कोई।

यह जीवन औ' संसार अधूरा इतना है,
कुछ बे तोड़े कुछ जोड़ नहीं सकता कोई ।

हर पूजा कुछ बलिदान सदा माँगा करती,
लतिका का मोह मिटाना है;
हर पूजा कुछ विद्रोह सदा चाहा करती,
इस चादर को फट जाना है ।
माला गूँथी, देवता खड़े हैं, पहनाएँ;
उनके अधरों पर हास, नयन में आँसू हैं ।
आरती देवता के मुसकानों की लेकर
यह अर्घ्य दृगों का छोड नही सकता कोई ।
यह जीवन औ' संसार अधूरा इतना है
कुछ बे तोड़े कुछ जोड़ नहीं सकता कोई ।

तुमने किसको छोड़ा? सच्चाई तो यह है,
कुछ अपनापन ही छूट गया ।
मैंने किसको तोड़ा? सच्चाई तो यह है,
कुछ भीतर-भीतर टूट गया ।
कुछ जोड़ हमें भी जाएँगे, कुछ तोड़ हमें
भी जाएँगे जब बनने को वे सोचेंगे,
पर हम-से ही वे छूटेंगे, वे टूटेंगे;
जग-जीवन की गति मोड़ नही सकता कोई।
यह जीवन औ' संसार अधूरा इतना है,
कुछ बे तोड़े कुछ जोड़ नही सकता कोई।

१००

मै अभी जिंदा, अभी यह
शव-परीक्षा मैं तुम्हे करने न दूंगा।

देखता हूँ तुम सफ़ेद नकाब
सिर से पॉव तक डाले हुए हो;
क्या कफ़न को ओढ़ने से
मर गए तुम लोग! मतवाले हुए हो?
नश्तरों की रौ लगी है,
मेज़ मुर्दों को लेटाने की पड़ी है।
मैं अभी जिंदा, अभी यह
शव-परीक्षा मैं तुम्हें करने न दूंगा।

आँख मेरी आज भी मानव-
नयन की गूढ़तर तह तक उतरती,
आज भी अन्याय पर
अंगार बनती; अश्रुधारा में उमड़ती
जिस जगह इंसान की
इंसानियत लाचार उसको कर गई है।
तुम नहीं यह देखते तो
मैं तुम्हारी आँख पर अचरज करूँगा।

मै अभी जिंदा, अभी यह
शव-परीक्षा मैं तुम्हें करने न दूँगा।

आज भी आवाज जो मेरे
कलेजे रो, गले से है निकलती,
गूंजती कितने गलों मे
और कितने ही दिलों में है मचलती,
मौन एकाकी पलों का
भंग करती, औ' मिलन मे एक मन को
दूसरे पर व्यक्त करती;
चुप न होगी, जबकि मै भी मूक हूँगा।
मै अभी जिदा, अभी यह
शव-परीक्षा, मैं तुम्हें करने न दूँगा।

आज भी जो साँस मुझमें
चल रही है वह हवा भर ही नही है,
है इसीकी चाल पर
इतिहास चलता और संस्कृति चल रही है;
और क्या इतिहास, क्या संस्कृति,
कि जीवन में मनुज विश्वास रक्खे;
मै इसी विश्वास को हर
साँस से कहता रहा, कहता रहूँगा।
मैं अभी जिदा, अभी यह
शव-परीक्षा मैं तुम्हें करने न दूँगा।

काग़जों की भी नकाबें
डालकर इंसानियत कोई छिपाते,
काग़जों के भी कफ़न को
ओढ़ कोई धड़कने दिल की दबाते;
शव-परीक्षा के लिए
तैयार जो हैं शव प्रथम वे बन चुके है,
किंतु मेरे स्वर निरर्थक,
हैं, अगर वे है न पर्दों को हटाते,
है न दिल को खटखटाते,
है न मुर्दों को हिलाते औ' जगाते।
मै अभी मुर्दा नही हूँ,
और तुमको भी अभी मरने न दूँगा।
मैं अभी ज़िंदा, अभी यह
शव-परीक्षा मैं तुम्हें करने न दूँगा।
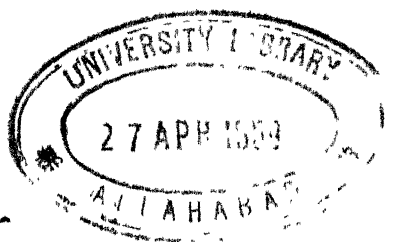
विलियम बट्लर ईट्स के प्रति

[टिप्पणी]

विलियम बट्लर ईट्स (१८६५-१९३९) के नाम से इस देश के लोग अपरिचित नही हैं। उन्होने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताजलि' के अंग्रेजी अनुवाद की पंक्ति-पंक्ति सुधारी थी, प्रकाशन मे सहायता दी थी, और उसकी भावमयी भूमिका भी लिखी थी।

ईट्स ने १९वी शताब्दी के अतिम दशक मे काव्य-क्षेत्र मे प्रवेश किया, जो अंग्रेजी साहित्य के इतिहास मे ह्रास युग (डिकेडेन्ट पीरियड) के नाम से प्रसिद्ध है। यह वाल्टर पेटर और आस्कर वाइल्ड के 'कला कला के लिए' सिद्धात का युग था। अपने समकालीन कवियो मे केवल ईट्स ही ऐसे निकले जो युग की अस्वस्थ प्रवृत्तियो से सघर्ष कर ऊपर उठे और अपने जीवन के अत तक अपने समय के सबसे बडे और प्रतिनिधि कवि माने जाते रहे।

इसका कारण यह था कि ईट्स को आयरलैड के पुनर्जागरण से प्रेरणा और शक्ति मिली थी। प्राणवान साहित्य जातियो के प्राणमय जीवन और इतिहास से ही उद्भूत होता है। उन्होने आयरलैड के राष्ट्रीय आदोलन को अपनी कृतियो से बल और सबल प्रदान भी किया था।

उनकी लेखनी लगभग पचास वर्ष तक अनवरत चलती रही। उनकी आँखो ने स्वप्न और सत्य दोनो की दुनिया देखी और दोनो को निर्भीक वाणी दी।

स्वस्थ साहित्य के पीछे किसी स्वस्थ धर्म, दर्शन अथवा आस्था की आवश्यकता मे उनका दृढ विश्वास था। पर इस युग मे विज्ञान ने तर्क, सदेह और शंका के विस्फोटों से इन मान्यताओ के समय-सिद्ध-प्रासादो को जैसे नीव से उडा दिया था। किसी परंपरा की खोज और स्थापना के

प्रयत्न मे ईट्स ने कहाँ-कहाँ की खाक नही छानी । प्राचीन यूनान और मिस्र के विचारक, मध्यकालीन योरोपीय कीमियागर, यहूदियों का 'कब्बाला', भारतीय दर्शन, रहस्यवादी जैकब बेहमेन और स्वीडेनबार्ग, मदाम ब्लेवेट्स्की की थियोसोफी—क्या-क्या उनकी खोज के विषय नही रहे।

इस अध्यवसाय मे वे यहूदियो के 'कब्बाला' से विशेष प्रभावित हुए, जिसके जीवन दर्शन का मुख्यांश साँप और तीर के रूपक मे अभिव्यक्त होता है—साँप जिसकी गति गोलाकार होती है और तीर जो सीधे जाता है। ईट्स ने इन दोनों को अपने ढग से तितली और बाज की गति मानी है। जिस समय मै डबलिन में ईट्स के पुस्तकालय मे उनकी पाडुलिपियो का निरीक्षण कर रहा था, एक दिन ईट्स की विधवा पत्नी जार्ज ईट्स सहसा मेरे पास आईं। एक डिब्बी से उन्होने एक अँगूठी निकाली। उसके ऊपर तितली और बाज की आकृतियाँ बनी थी। श्रीमती ईट्स ने बताया कि उनके पति इसे अपने दाहिने हाथ की कनिष्ठा मे पहना करते थे। उन्होने जिद की कि मै उसे पहनूं। और जब मैंने पहन ली तो बोली, 'यह तुमको बिल्कुल ठीक आई, विली (विलियम) की कनिष्ठा बिल्कुल तुम्हारी जैसी थी।' मै किन भावों मे उस समय डूब गया बताना कठिन है।

केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में पी-एच० डी० की जो थीसिस मैंने प्रस्तुत की, उसका विषय था 'ईट्स का तन्त्रवाद'। इसके लिए मुझे उनकी कविताओं को आलोचक की तर्क-बुद्धि से पढना पडा और मैंने कुछ नई बातें खोज निकाली। पर सहृदय पाठक की संवेदनशीलता से मैंने उनसे आनंद ही अधिक उठाया। इन दोनों क्रियाओ का सामंजस्य करना रेखा और वृत्त में सामंजस्य करने के समान था। इसके लिए मैंने एक नए रूपक का उपयोग किया है—माझी और तैराक का। शेष बातें कविता से स्पष्ट होंगी।

यह टिप्पणी इस आशा से लिखी गई है कि इसके द्वारा ईट्स पर लिखी मेरी रचना आसानी से समझी जा सकेगी।

○ ○ ○